

## Chapter तेईस

### महाराज पृथु का भगवद्धाम गमन

मैत्रेय उवाच

दृष्ट्वात्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान् ।  
आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः प्रजापतिः ॥ १ ॥  
जगतस्तस्थुषश्चापि वृत्तिदो धर्मभृत्सताम् ।  
निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान् ॥ २ ॥  
आत्मजेष्व्वात्मजां न्यस्य विरहाद्गुदतीमिव ।  
प्रजासु विमनःस्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम् ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; दृष्ट्वा—देखकर; आत्मानम्—शरीर की; प्रवयसम्—वृद्धावस्था; एकदा—एक बार;  
वैन्यः—राजा पृथु ने; आत्म-वान्—आध्यात्मिक शिक्षा से पूर्ण रूप से ज्ञात; आत्मना—अपने द्वारा; वर्धित—बढ़ा हुआ;  
अशेष—अपार; स्व-अनुसर्गः—भौतिक ऐश्वर्य की उत्पत्ति; प्रजा-पतिः—प्रजा का रक्षक; जगतः—चल; तस्थुषः—अचल;  
च—भी; अपि—निश्चय ही; वृत्ति-दः—आजीविका देने वाला; धर्म-भृत्—धर्म मानने वाला; सताम्—भक्तों का; निष्पादित—  
पूर्णतया सम्पन्न किया गया; ईश्वर—भगवान् की; आदेशः—आज्ञा; यत्-अर्थम्—उनकी सहमति से; इह—इस संसार में;  
जज्ञिवान्—किया; आत्म-जेषु—अपने पुत्रों को; आत्म-जाम्—पृथ्वी को; न्यस्य—सूचित करते हुए; विरहात्—वियोग से;

रुदतीम् इव—मानो विलाप करती हुई; प्रजासु—प्रजा को; विमनःसु—दुखियारों को; एकः—अकेले; स-दारः—अपनी पत्नी सहित; अगात्—चला गया; तपः-वनम्—वन में जहाँ तप किया जा सके।

अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में, जब महाराज पृथु ने देखा कि मैं वृद्ध हो चला हूँ तो उस महापुरुष ने, जो संसार का राजा था, अपने द्वारा संचित सारे ऐश्वर्य को जड़ तथा जंगम जीवों में बाँट दिया। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के लिए धार्मिक नियमों के अनुसार आजीविका (पेंशन) की व्यवस्था कर दी और भगवान् के आदेशों का पालन करके, उनकी पूर्ण सहमति से उन्होंने अपने पुत्रों को अपनी पुत्रीस्वरूपा पृथ्वी को सौंप दिया। तब महाराज पृथु अपनी प्रजा को, जो राजा के वियोग के कारण विलख रही थी, त्याग कर तपस्या करने के लिए पत्नीसहित वन को अकेले चले गये।

**तात्पर्य :** महाराज पृथु भगवान् के शक्त्यावेश अवतारों में से एक थे, अतः वे इस पृथ्वी पर परमेश्वर के आदेशों को पूरा करने के लिए प्रकट हुए थे। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है कि परमेश्वर समस्त लोकों के स्वामी हैं और वे यह देखने के लिए उत्सुक रहते हैं कि प्रत्येक लोक के वासी सुखपूर्वक रहते हुए अपने-अपने कर्म करते रहें। ज्योंही कर्मों के पालन में कोई विषमता आने लगती है त्योंही भगवान् पृथ्वी पर प्रकट होते हैं जिसकी पुष्टि भगवद्गीता (४.७) में इस प्रकार हुई है—*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।*

चूँकि राजा वेन के शासनकाल में अनेक विषमताएँ आ गई थीं, अतः भगवान् ने अपने सबसे विश्वासपात्र भक्त महाराज पृथु को सब कुछ ठीक करने के लिए भेजा था। फलतः भगवान् के आदेशों को पूरा करने तथा संसार के मामलों को तय करने के बाद महाराज पृथु कार्यमुक्त होना चाह रहे थे। उनका प्रशासन आदर्श था और अब उनका कार्यमुक्ति-काल भी आदर्श होना था। फलतः उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी और उन्हें संसार का शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। फिर वे अपनी पत्नी सहित वन को चले गये। इस सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण बात है कि कहा जाता है कि महाराज पृथु अकेले वन गये और फिर भी अपने साथ अपनी पत्नी को भी लेते गये। वैदिक नियमों के अनुसार गृहस्थ जीवन का परित्याग करने पर मनुष्य अपने साथ अपनी पत्नी को ले जा सकता है, क्योंकि पति तथा पत्नी एक इकाई माने जाते हैं। इस प्रकार वे दोनों मोक्ष के लिए साथ-साथ तपस्या कर सकते हैं। महाराज पृथु ने जो एक आदर्श व्यक्ति थे, इसी मार्ग का अनुसरण किया और यही

वैदिक सभ्यता की भी विधि है। मनुष्य को अन्त काल तक घर पर ही नहीं रहना चाहिए, अपितु उपयुक्त समय आने पर पारिवारिक जीवन से पृथक् होकर भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी करनी चाहिए। ईश्वर के शक्त्यावेश अवतार होने के कारण महाराज पृथु का जो श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि के रूप में वैकुण्ठ से आये थे, भगवद्धाम जाना निश्चित था। तो भी सभी प्रकार से आदर्श प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने तपोवन में कठिन तपस्या भी की। ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों गृहत्याग के बाद तपस्या करने के निमित्त अनेक तपोवन होते थे। दरअसल, भगवान् की शरण ग्रहण करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को तपोवन जाना अनिवार्य हुआ करता था, क्योंकि पारिवारिक जीवन से विरक्त होना और साथ ही घर में रहते रहना अत्यन्त कठिन होता है।

तत्राप्यदाभ्यनियमो वैखानससुसम्पते ।

आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—भी; अदाभ्य—कठोर; नियमः—तपस्या; वैखानस—विरक्त जीवन ( वानप्रस्थ ) के नियम; सु-सम्पते—पूर्णतया मान्य; आरब्धः—प्रारम्भ करते हुए; उग्र—कठोर; तपसि—तपस्या; यथा—जिस प्रकार; स्व-विजये—संसार को जीतने में; पुरा—पहले।

पारिवारिक जीवन से निवृत्त होकर महाराज पृथु ने वानप्रस्थ जीवन के नियमों का कड़ाई से पालन किया और वन में कठिन तपस्या की। वे इन कार्यों में उसी गम्भीरता से जुट गये जिस तरह पहले वे शासन चलाने तथा हर एक पर विजय पाने के लिए जुट जाते थे।

तात्पर्य : जिस तरह पारिवारिक जीवन बिताते समय सक्रिय रहना अत्यावश्यक है, उसी तरह पारिवारिक जीवन से निवृत्त होने पर मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना आवश्यक है। ऐसा तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने आपको पूरी तरह भगवान् की भक्ति में लगाये रखे। वास्तव में वैदिक सामाजिक व्यवस्था का उद्देश्य मनुष्य को अन्ततः भगवान् के धाम वापस जाने के योग्य बनाना है। गृहस्थ आश्रम एक प्रकार से नियमित जीवन के साथ-साथ इन्द्रियतृप्ति के लिए छूट है। इसका उद्देश्य जीवन के बीच में ही विरक्त होकर तपस्या में पूरी तरह से संलग्न होना है, जिससे सदा-सदा के लिए भौतिक इन्द्रियतृप्ति से छुटकारा मिल जाय। फलतः जीवन की वानप्रस्थ अवस्था में तपस्या पर अत्यन्त बल दिया जाता है। महाराज पृथु ने वानप्रस्थ जीवन के समस्त नियमों का सही-सही पालन किया, जिसे वैखानस आश्रम कहते हैं। वैखानस-सुसम्पते शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वानप्रस्थ जीवन में

विधि-विधानों का भी कठोरता से पालन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, महाराज पृथु जीवन के हर क्षेत्र में आदर्श चरित्र थे। *महाजनो येन गतः स पन्थाः*—मनुष्य को चाहिए कि महापुरुषों के पदचिह्नों पर चले। इस प्रकार महाराज पृथु के आदर्श चरित्र का अनुसरण करके कोई भी इस जीवन में अथवा सक्रिय जीवन से निवृत्त होने पर पूर्ण बन सकता है। इस प्रकार इस शरीर को त्याग कर मनुष्य मुक्त हो सकता है और भगवान् के धाम जा सकता है।

कन्दमूलफलाहारः शुष्कपर्णाशनः क्वचित् ।

अब्भक्षः कतिचित्पक्षान्वायुभक्षस्ततः परम् ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

कन्द—तना; मूल—जड़ें; फल—फल; आहारः—खाकर; शुष्क—सूखी; पर्णा—पत्तियाँ; अशनः—खाकर; क्वचित्—कभी-कभी; अप्-भक्षः—जल पीकर; कतिचित्—कई; पक्षान्—पखवारों तक; वायु—हवा; भक्षः—साँस लेकर; ततः परम्—तत्पश्चात्।

तपोवन में महाराज पृथु कभी वृक्षों के तने तथा जड़ें खाते रहे तो कभी फल तथा सूखी पत्तियाँ। कुछ हफ्तों तक उन्होंने केवल जल पिया। अन्त में वे केवल वायु ग्रहण करके उसी से निर्वाह करने लगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में योगियों को सलाह दी गई है कि वे जंगल में एकान्त में जाकर पवित्र स्थान में अकेले रहें। पृथु महाराज के आचरण से हम समझ सकते हैं कि जब वे जंगल गये तो उन्होंने कुछ भक्तों या शिष्यों द्वारा शहर से भेजा गया किसी प्रकार का पका भोजन नहीं खाया। जैसे ही कोई जंगल में रहने का व्रत लेता है, उसे केवल कन्द मूल, तने, फल, सूखी पत्तियाँ या प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुएँ खानी चाहिए। पृथु महाराज ने जंगल में रहने के लिए इन नियमों को कठोरतापूर्वक अंगीकार किया। अतः वे सूखी पत्तियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाते थे और थोड़े से जल के अतिरिक्त कुछ पीते भी नहीं थे। कभी-कभी तो वे केवल हवा पर रह जाते थे। कभी-कभी वे वृक्षों के कुछ फल खा लेते थे। इस प्रकार वे जंगल में रहकर भोजन के मामले में कठिन तपस्या करने लगे। दूसरे शब्दों में, जो आध्यात्मिक जीवन में उन्नति चाहता है उसे अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। श्री रूप गोस्वामी ने भी आगाह किया है कि अधिक खाना तथा अधिक श्रम नियमविरुद्ध हैं (*अत्याहारः प्रयासश्च*)। इनसे कभी भी आध्यात्मिक जीवन में उन्नति नहीं की जा सकती।

वैदिक आदेश के अनुसार जंगल में रहना पूर्णतः सतोगुणी, शहर में रहना रजोगुणी तथा वेश्यालय

या मदिरालय में रहना तामसिक है। किन्तु मन्दिर में रहना वैकुण्ठ में रहना है, क्योंकि वह प्रकृति के समस्त गुणों से परे होता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को भगवान् के मन्दिर में रहने का सुअवसर प्रदान करता है, जो वैकुण्ठ के ही समान होता है। अतः कृष्णभक्त को न तो जंगल जाने की जरूरत है, न ही जंगल में रहने वाले महाराज पृथु या ऋषियों तथा मुनियों का कृत्रिम रूप से अनुकरण करने का प्रयास की।

श्री रूप गोस्वामी शासन के मंत्री पद से अवकाश पाने के बाद वृन्दावन गये और महाराज पृथु की भाँति एक वृक्ष के नीचे रहने लगे। तब से अनेक लोग रूप गोस्वामी के चरित्र का अनुकरण करके वृन्दावन गये हैं। किन्तु आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करने के बजाय उनमें से अनेक भौतिक आदतों में फँस गये हैं और वृन्दावन जाकर भी अवैध यौनाचार, द्यूत क्रीड़ा तथा नशे के शिकार हुए हैं। अब कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का सूत्रपात पाश्चात्य देशों में किया गया है। किन्तु पाश्चात्यवासियों के लिए सम्भव नहीं कि वे जंगल जाकर वैसी ही कठिन तपस्या करें जैसी पृथु महाराज या रूप गोस्वामी ने की थी। तो भी पाश्चात्यवासी या अन्य लोग श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का अनुसरण मन्दिर में रहकर कर सकते हैं, क्योंकि मन्दिर का वास जंगल वास से परे है। वे कृष्णप्रसाद के अतिरिक्त कुछ न ग्रहण करने का व्रत ले सकते हैं, विधि-विधानों का पालन कर सकते हैं और प्रतिदिन १६ माला हरे-कृष्ण-मंत्र का जप कर सकते हैं। इस प्रकार उनका आध्यात्मिक जीवन कभी भी विचलित नहीं होगा।

ग्रीष्मे पञ्चतपा वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः ।

आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

ग्रीष्मे—गर्मी की ऋतु में; पञ्च-तपा:—पाँच प्रकार के ताप; वीरः—वीर; वर्षासु—वर्षा ऋतु में; आसारषाट्—वर्षा की झड़ी की पहुँच में रहकर; मुनिः—मुनियों की तरह; आकण्ठ—गले तक; मग्नः—डूबे हुए; शिशिरे—जाड़े में; उदके—जल के भीतर; स्थण्डिले-शयः—फर्श पर लेटे हुए।

वानप्रस्थ के नियमों तथा ऋषियों-मुनियों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए पृथु महाराज ने ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नियों का सेवन किया, वर्षा ऋतु में वे वर्षा की झड़ी में बाहर ही रहे और जाड़े की ऋतु में गले तक जल के भीतर खड़े रहे। वे भूमि पर बिना बिस्तर के सोते रहे।

तात्पर्य : जो भक्तियोग को स्वीकार नहीं कर सकते ऐसे ज्ञानी तथा योगी इस प्रकार की तपस्याएँ करते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं जिससे भौतिक कल्मष से शुद्ध हो सकें। पञ्च-तपा: से पाँच प्रकार

की अग्नियों का बोध होता है। इस विधि में मनुष्य को अग्नि के वृत्त के भीतर बैठना होता है, जिसकी लपटें चारों ओर से निकलती हैं और सिर के ऊपर से सूर्य सीधे दहकता रहता है। तपस्या के लिए निर्धारित *पञ्चतपाः* में से यह एक प्रकार है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में मनुष्य को वर्षा की झड़ी में रहना होता है और शीत ऋतु में गले तक ठंडे पानी में बैठना होता है। जहाँ तक बिस्तर का सवाल है, तपस्वी को भूमि पर लेटना होता है। ऐसी कठिन तपस्या का उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का भक्त बनना है। जैसा की अगले श्लोक में बताया गया है।

तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः ।

आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम् ॥ ७ ॥

#### शब्दार्थ

तितिक्षुः—सहन करते हुए; यत—वश में करते हुए; वाक्—शब्द; दान्तः—इन्द्रियों को वश में करते हुए; ऊर्ध्व-रेताः—वीर्य स्खलन के बिना; जित-अनिलः—प्राण वायु को जीतते हुए; आरिराधयिषुः—केवल इच्छा करते हुए; कृष्णम्—कृष्ण को; अचरत्—अभ्यास किया; तपः—तपस्या; उत्तमम्—श्रेष्ठ।

अपनी वाणी तथा इन्द्रियों को वश में करने, वीर्य स्खलित न होने देने तथा अपने शरीर के भीतर प्राण-वायु को वश में करने के लिए महाराज पृथु ने ये सारी कठिन तपस्याएँ साधीं। यह सब उन्होंने श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किया। इसके अतिरिक्त उनका कोई अन्य प्रयोजन न था।

तात्पर्य : कलियुग के लिए *बृहन्नारदीय पुराण* में संस्तुति की गई है—

*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।*

*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥*

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा मान्य होने के लिए चौबीसों घण्टे भगवान् का नाम जपने की आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश जो लोग इस गुरु को नहीं स्वीकार करते वे किसी और प्रकार की तपस्या का आश्रय लिए बिना अन्य प्रकार का छद्म चिन्तन पसन्द करते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि परिशुद्ध होने के लिए या तो ऊपर वर्णित तपस्या की कठिन विधि को स्वीकार किया जाये या फिर श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए भक्ति की जाये। जो व्यक्ति कृष्णभक्त होता है, वह अत्यन्त बुद्धिमान है, क्योंकि कलियुग में ऐसी कठिन तपस्याएँ कर पाना सम्भव नहीं है। हमें भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु जैसे महापुरुषों का अनुसरण करने की ही आवश्यकता है। स्वरचित *शिक्षाष्टक* में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने लिखा

है—*परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनम्*—श्रीकृष्ण के नाम की जय हो जो प्रारम्भ से हृदय को विशुद्ध करके तुरन्त मुक्ति प्रदान करता है। *भवमहादावाग्नि निर्वापनम्*। यदि समस्त योगों का असली उद्देश्य श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना है, तो इस युग के लिए संस्तुत यह सरल भक्तियोग पर्याप्त है। किन्तु यह आवश्यक है कि भगवान् की सेवा में निरन्तर संलग्न रहा जाए। यद्यपि पृथु महाराज ने अपना तप श्रीकृष्ण के आविर्भाव के बहुत पहले किया था, किन्तु इसका उद्देश्य श्रीकृष्ण को ही प्रसन्न करना था।

ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो यह दावा करते हैं कि श्रीकृष्ण की पूजा केवल पाँच हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई जब भगवान् कृष्ण भारत में प्रकट हुए, किन्तु तथ्य यह नहीं है। पृथु महाराज ने श्रीकृष्ण की पूजा लाखों वर्ष पूर्व की, क्योंकि पृथु महाराज ध्रुव के वंशज थे जिन्होंने सत्ययुग में छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया था। यदि ध्रुव महाराज एक लाख वर्ष की आयु तक जीवित न रहे हों, वे छत्तीस हजार वर्षों तक कैसे राज्य करते रहे? बात तो यह है कि कृष्णपूजा सृष्टि के आरम्भ से ही विद्यमान थी और सत्ययुग, त्रेतायुग तथा द्वापर युग में से होते हुए अब कलियुग में चल रही है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, कृष्ण केवल ब्रह्मा के इसी कल्प में नहीं, अपितु प्रत्येक कल्प में प्रकट होते हैं। फलतः कृष्ण की पूजा प्रत्येक कल्प में की जाती है। ऐसा नहीं है कि जब पाँच हजार वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर श्रीकृष्ण प्रकट हुए तभी से यह पूजा चालू हुई। यह मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष है, जिसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से नहीं होती।

इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति *आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम्* भी महत्त्वपूर्ण है। कृष्णपूजन के विशेष उद्देश्य के लिए महाराज पृथु ने अनेक प्रकार की कठिन तपस्याएँ कीं। किन्तु इस युग में श्रीकृष्ण विशेष रूप से दयालु हैं कि वे अपने दिव्य नाम के दिव्य उच्चारण से ही प्रकट हो जाते हैं। जैसाकि *नारद पञ्चरात्र* में कहा गया है—*आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्*। यदि कृष्ण की पूजा की जाए, यदि उन्नति के लक्ष्य वे ही हैं, तो अनेक प्रकार की कठोर तपस्याएँ करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लक्ष्य तो पहले ही प्राप्त हो चुका है। यदि सभी प्रकार की तपस्याएँ करके कोई कृष्ण को नहीं प्राप्त कर पाता तो उसकी सारी तपस्या व्यर्थ रहती है, क्योंकि बिना कृष्ण के सारी तपस्या वृथा का श्रम है। *श्रम एव हि केवलम्* (भागवत १.२.८)। अतः हमें यह सोचकर हतोत्साहित नहीं होना चाहिए कि हम जंगल जाकर कठिन तपस्या नहीं कर पा रहे। हमारा जीवन इतना अल्प है कि हमें

वैष्णव आचार्यों द्वारा बताये गये नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए और शान्तिपूर्वक कृष्णभक्ति करनी चाहिए। हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। नरोत्तमदास ठाकुर का तो कहना है— *आनन्दे बलहरि, भज वृन्दावन, श्रीगुरु-वैष्णव-पदे मजाइया मन।* दिव्य, आनन्दमय जीवन के लिए हरे-कृष्ण-मंत्र का जप करो, पवित्र स्थान वृन्दावन जाकर पूजा करो और सदैव भगवान् गुरु तथा वैष्णवों की सेवा करो। अतः यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन अत्यन्त सरल एवं निरापद है। हमें केवल भगवान् के आदेशों का पालन एवं उनकी शरण ग्रहण करनी होती है। इसमें हमें गुरु के आदेश का पालन करना होता है, कृष्णभक्ति का उपदेश देना होता है और वैष्णवों के पथ का अनुसरण करना होता है। गुरु के आदेशों का पालन करने तथा हरे-कृष्ण का जप करने से सब कुछ ठीक हो जाएगा।

तेन क्रमानुसिद्धेन ध्वस्तकर्ममलाशयः ।

प्राणायामैः सन्निरुद्धषड्वर्गाश्छिन्नबन्धनः ॥ ८ ॥

#### शब्दार्थ

तेन—इस तरह तपस्या करने से; क्रम—क्रमशः; अनु—निरन्तर; सिद्धेन—सिद्धि से; ध्वस्त—विनष्ट; कर्म—सकाम कर्म; मल—गंदी वस्तुएँ; आशयः—इच्छा; प्राण-आयामैः—प्राणायाम योग के अभ्यास से; सन्—होकर; निरुद्ध—रुका हुआ; षट्-वर्गः—मन तथा इन्द्रियाँ; छिन्न-बन्धनः—समस्त बन्धनों से मुक्त।

इस प्रकार कठिन तपस्या करने से महाराज पृथु क्रमशः आध्यात्मिक जीवन में स्थिर और सकाम कर्म की समस्त इच्छाओं से पूर्ण रूप से मुक्त हो गये। उन्होंने मन तथा इन्द्रियों को वश में करने के लिए प्राणायाम योग का भी अभ्यास किया जिससे वे सकाम कर्म की समस्त इच्छाओं से पूर्ण रूप से मुक्ति पा गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्राणायामैः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हठयोगी तथा अष्टांग योगी प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, किन्तु सामान्यतः वे इसके उद्देश्य को नहीं जानते। प्राणायाम का उद्देश्य मन तथा इन्द्रियों को सकाम कर्म की ओर प्रवृत्त होने से रोकना है। पाश्चात्य देशों में जो तथाकथित प्राणायाम (योग) करते हैं उन्हें इसका रंचमात्र भी ज्ञान नहीं होता। प्राणायाम का उद्देश्य शरीर को बलवान तथा कठोर श्रम के लिए अनुकूल बनाना नहीं है। इसका उद्देश्य तो कृष्ण की पूजा करना है। पिछले श्लोक में इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि पृथु महाराज जो भी तप, प्राणायाम तथा योग करते थे उसका उद्देश्य श्रीकृष्ण का पूजन था। अतः योगियों के लिए भी पृथु महाराज एक उत्तम उदाहरण का काम कर सकते हैं। जो भी उन्होंने किया वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण को प्रसन्न



करने के लिए था।

जो सकाम कर्म में व्यस्त रहते हैं उनके मन सदैव अपवित्र इच्छाओं से पूर्ण रहते हैं। सकाम कर्म द्वारा हम अपनी दूषित इच्छाओं को प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रकट करते हैं। जब तक मनुष्य में दूषित इच्छाएँ प्रबल रहती हैं, उसे एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। तथाकथित योगी योग के असली उद्देश्य को समझे बिना अपने शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए योग का अभ्यास करते हैं। इस प्रकार वे सकाम कर्म में प्रवृत्त होते हैं और इच्छाओं से बँधकर उन्हें दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। उन्हें इसका ज्ञान नहीं होता कि जीवन का चरम लक्ष्य श्रीकृष्ण तक पहुँचना है। ऐसे योगियों को विभिन्न योनियों में विचरण करते रहने से बचाने के लिए शास्त्रों की यह चेतावनी है कि इस युग में योगाभ्यास एक तरह से समय का अपव्यय है। ऊपर उठने का एकमात्र साधन हरे-कृष्ण-महामंत्र का जप है।

राजा पृथु के कार्यकलाप सत्ययुग में हुए थे। किन्तु आधुनिक युग में पतिततामाएँ योग अभ्यास को ठीक से नहीं समझ पातीं और वे इसका अभ्यास करने से असमर्थ हैं। फलतः शास्त्रों का कथन है—*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।* निष्कर्ष यह निकला कि जब तक कर्मी, ज्ञानी तथा योगी भगवान् कृष्ण की भक्ति के बिन्दु तक नहीं पहुँच जाते, तब तक उनके तथाकथित तप तथा योग का कोई महत्त्व नहीं होता। *नाराधितः*—यदि हरि की पूजा नहीं की जाती तो ध्यान योग, कर्म योग इत्यादि करने से कोई लाभ नहीं। जहाँ तक प्राणायाम की बात है, भगवान् के नाम का कीर्तन तथा प्रेमविभोर होकर नाचना भी प्राणायाम माने जाते हैं। एक पिछले श्लोक में सनत्कुमार ने महाराज पृथु को भगवान् वासुदेव की सेवा में निरन्तर रत रहने का आदेश दिया है।

*यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या*

*कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।*

केवल वासुदेव को पूजने से सकाम कर्म की इच्छाओं से मुक्त हुआ जा सकता है। वासुदेव की पूजा किये बिना योगियों तथा ज्ञानियों को ऐसी इच्छाओं से मुक्ति नहीं मिल पाती।

*तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-*

*स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।*

( भागवत ४.२२.३९ )

यहाँ पर प्रणायाम का कोई अन्य उद्देश्य नहीं है। वास्तविक उद्देश्य तो मन तथा इन्द्रियों को सुदृढ़ करना है, जिससे उन्हें भक्ति की ओर प्रवृत्त किया जा सके। इस युग में यह संकल्प हरे कृष्ण नाम का कीर्तन मात्र करने से आसानी से प्राप्त हो सकता है।

सनत्कुमारो भगवान्यदाहाध्यात्मिकं परम् ।

योगं तेनैव पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥

### शब्दार्थ

सनत्-कुमारः—सनत्कुमार ने; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; यत्—जो; आह—कहा; आध्यात्मिकम्—जीवन की आध्यात्मिक उन्नति; परम्—चरम; योगम्—योग; तेन—उससे; एव—निश्चय ही; पुरुषम्—परम पुरुष; अभजत्—पूजा की; पुरुष-ऋषभः—मनुष्यों में श्रेष्ठ।

इस प्रकार मनुष्यों में श्रेष्ठ महाराज पृथु ने आध्यात्मिक उन्नति के उस पथ का अनुसरण किया जिसका उपदेश सनत्कुमार ने किया था; अर्थात् उन्होंने भगवान् कृष्ण की पूजा की।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि संत सनत्कुमार के उपदेशानुसार महाराज पृथु प्राणायाम योग करते हुए भगवान् की सेवा में लगे रहे। इस श्लोक में पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः शब्द महत्त्वपूर्ण है। पुरुषर्षभः महाराज पृथु के लिए आया है, जो मनुष्यों में श्रेष्ठ थे और पुरुषम् भगवान् के लिए आया है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जो पुरुषों में श्रेष्ठ होता है, वह परम पुरुष की सेवा करता है। एक पुरुष शब्द पूजनीय के लिए तथा दूसरा पुरुष शब्द पूजक के लिए है। जब पूजा करने वाला पुरुष अर्थात् जीवात्मा अपने को परम पुरुष से एकाकार मानता है, तो वह मोहित होकर अविद्या के अंधकार में गिर जाता है। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता (२.१२) में कहा है—युद्धक्षेत्र में एकत्र सभी प्राणी तथा कृष्ण भी स्वयं भूतकाल में भी व्यक्तियों के रूप में थे और भविष्य में भी रहेंगे। फलतः दोनों पुरुष—जीवात्मा तथा परमात्मा—कभी भी अपनी सत्ता नहीं खोते।

वास्तव में जो स्वरूपसिद्ध है, वह इस जन्म में तथा अगले जन्मों में भी भगवान् की सेवा में लगा रहता है। भक्तों के लिए वास्तव में इस जीवन तथा अगले जीवन में कोई अन्तर नहीं रहता। इस जीवन में नवदीक्षित भक्त को भगवान् की सेवा करने का प्रशिक्षण दिया जाता है और अगले जीवन में वह वैकुण्ठ में भगवान् के निकट पहुँच जाता है और वैसी ही सेवा करता रहता है। नवदीक्षित भक्त के लिए भी भक्ति ब्रह्मभूयाय कल्पते मानी जाती है। भगवद्भक्ति को कभी भी भौतिक कर्म नहीं माना

जाता। ब्रह्मभूत पद से कर्म करने के कारण भक्त पहले ही मुक्त हो जाता है। अतः उसे ब्रह्मभूत अवस्था तक पहुँचने के लिए किसी अन्य प्रकार के योग-साधन की आवश्यकता नहीं रहती। यदि भक्त गुरु के आदेशों पर अटल रहता है, विधि-विधानों का पालन करता है और हरे-कृष्ण-मंत्र का जप करता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने ब्रह्मभूत अवस्था पहले ही प्राप्त कर ली है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

*मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।*

*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥*

“जो पूर्ण भक्ति में रत और सभी परिस्थितियों में अचूक बना रहता है, वह प्रकृति के गुणों को तुरन्त पार कर लेता है और ब्रह्म के पद को प्राप्त होता है।”

**भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा ।**

**भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत् ॥ १० ॥**

#### शब्दार्थ

भगवत्-धर्मिणः—भगवान् की भक्ति करने वाला; साधोः—भक्त का; श्रद्धया—श्रद्धा से; यततः—प्रयास करते हुए; सदा—सदैव; भक्तिः—भक्ति; भगवति—भगवान् की; ब्रह्मणि—निर्गुण ब्रह्म की उत्पत्ति; अनन्य-विषया—बिना किसी विचलन के, दृढ़; अभवत्—हो गया।

इस प्रकार महाराज पृथु चौबीसों घंटे कठोरता से विधि-विधानों का पालन करते हुए पूर्ण रूप से भक्ति में लग गये। इससे भगवान् कृष्ण के प्रति इनमें प्रेम तथा भक्ति का उदय हुआ और वे स्थिर हो गये।

**तात्पर्य :** *भगवद् धर्मिणः* शब्द बताता है कि महाराज पृथु जिस धार्मिक विधि का पालन कर रहे थे वह कृत्रिमता से दूर थी। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ (१.१.२) में कहा गया है—*धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र*—जो धार्मिक नियम केवल कृत्रिम हैं, वे ठगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वीर राघवाचार्य ने *भगवद्-धर्मिणः* की व्याख्या *निवृत्त-धर्मेण* के रूप में की है, जिससे सूचित होता है कि यह भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं से कलुषित नहीं हो सकता। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।*

*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥*

जब कोई भौतिक इच्छाओं से प्रेरित नहीं होता, सकाम कर्म की विधियों से दूषित तथा मनगढ़त

चिन्तन से दूषित नहीं होता और अच्छी तरह भगवान् की अनुकूल सेवा में लगा रहता है, तो उसकी सेवा भगवद्धर्म या शुद्ध भक्ति कहलाती है। इस श्लोक में ब्रह्मणि निर्गुण ब्रह्म का सूचक नहीं है। निर्गुण ब्रह्म भगवान् के अधीन है और चूँकि निर्गुण ब्रह्म के उपासक ब्रह्म तेज से एकाकार होना चाहते हैं, अतः वे भगवद्धर्म के अनुयायी नहीं कहे जा सकते। अपने भौतिक सुख में भ्रमित होकर निर्विशेषवादी भगवान् के अस्तित्व में मिल जाना चाहता है, किन्तु भगवान् का शुद्ध भक्त ऐसा कभी नहीं चाहता। अतः शुद्ध भक्त वास्तव में भगवद्धर्मी होता है।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि महाराज पृथु कभी भी निर्गुण ब्रह्म के उपासक न थे, वे सदैव भगवान् के शुद्ध भक्त ही रहे। भगवति ब्रह्मणि से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जो भगवान् की भक्ति में लगा रहता है। भक्त का निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान स्वतः प्रकट हो जाता है और वह निर्गुण ब्रह्म में कभी भी एकाकार होना नहीं चाहता। महाराज पृथु अपने भक्ति सम्बन्धी कार्यों को पूरा करने में स्थिर हो गये। उन्हें कर्म, ज्ञान या योग की शरण नहीं लेनी पड़ी।

तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध-

सत्त्वात्मनस्तदनुसंस्मरणानुपूर्त्या ।

ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन

चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अनया—इससे; भगवतः—भगवान् का; परिकर्म—भक्ति के कार्य; शुद्ध—शुद्ध, दिव्य; सत्त्व—अस्तित्व; आत्मनः—मन का; तत्—परमेश्वर का; अनुसंस्मरण—निरन्तर स्मरण; अनुपूर्त्या—ठीक से किये जाने पर; ज्ञानम्—ज्ञान; विरक्ति—अनासक्ति; मत्—रखते हुए; अभूत्—प्रकट हुआ; निशितेन—उत्कट कार्यों से; येन—जिससे; चिच्छेद—पृथक् होते हैं; संशय-पदम्—संदेह की स्थिति; निज—अपनी; जीव-कोशम्—जीवात्मा का आवरण (कोश)।

निरन्तर भक्ति करते रहने से पृथु महाराज का मन शुद्ध हो गया, अतः वे भगवान् के चरणारविन्द का निरन्तर चिन्तन करने लगे। इससे वे पूरी तरह से विरक्त हो गये और पूर्णज्ञान प्राप्त करके समस्त संशयों से परे हो गये। इस तरह वे मिथ्या अहंकार तथा जीवन के भौतिक बोध से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : नारद पञ्चरात्र में भगवान् की भक्ति की उपमा महारानी से दी गई है। जब महारानी दर्शन देती हैं, तो अनेक सेविकाएँ उसके साथ रहती हैं। भक्ति की सेविकाएँ हैं—ऐश्वर्य, मुक्ति तथा योग शक्तियाँ। कर्मी लोग भौतिक सुख में बहुत लिप्त रहते हैं, ज्ञानी लोग भौतिक बन्धन से छुटकारा पाने

के लिए इच्छुक रहते हैं और योगी आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। नारद पंचरात्र से हमें ज्ञात होता है कि जिसे शुद्ध भक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है उसे सकाम कर्मों से प्राप्त होने वाले समस्त ऐश्वर्य, दार्शनिक चिन्तन तथा योग अभ्यास भी प्राप्त हो जाते हैं। अतः श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने अपने *कृष्णकर्णामृत* में प्रार्थना की है, “हे भगवान्! यदि मुझमें आपके लिए अटूट भक्ति है, तो आप साक्षात् मेरे समक्ष प्रकट हों। फिर तो सकाम कर्मों के फल तथा दार्शनिक चिन्तन—*धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष*—ये सब मेरे अनुचर बनकर मेरे आदेश की प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे।” भाव यह है कि ज्ञानी लोग ब्रह्मविद्या से संस्कारित होकर भौतिक प्रकृति के चंगुल से निकलने के लिए अधिक प्रयास करते हैं। किन्तु भक्त ही ऐसा है, जो अपनी भक्ति के बल पर स्वतः अपने भौतिक शरीर से विरक्त हो जाता है। जब भक्त का आध्यात्मिक शरीर व्यक्त होने लगता है तब वह वास्तव में दिव्य जीवन के कार्यों में प्रवेश कर जाता है।

इस समय हमारा सम्पर्क भौतिक शरीर, भौतिक मन तथा भौतिक बुद्धि से बना हुआ है, किन्तु जब हम इन भौतिक अवस्थाओं से मुक्त हो जाते हैं, तो हमारे बुद्धि, मन तथा आध्यात्मिक शरीर प्रकट होते हैं। उस आध्यात्मिक अवस्था में, भक्त को कर्म, ज्ञान तथा योग के सारे लाभ प्राप्त होते हैं। यद्यपि भक्त यौगिक प्रक्रिया प्राप्त करने के लिए कभी भी सकाम कर्मों अथवा दार्शनिक चिन्तन में नहीं लगता, किन्तु वे स्वतः उसके समक्ष सेवा हेतु प्रकट हो जाते हैं। भक्त किसी प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य नहीं चाहता किन्तु यह ऐश्वर्य उसके समक्ष अपने आप प्रकट हो जाता है। उसे इसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। अपनी भक्ति के कारण वह स्वतः *ब्रह्मभूत* हो जाता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

*मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।*

*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥*

“जो पूर्ण भक्ति में रत है और सभी परिस्थितियों में अचूक बना रहता है, वह प्रकृति के गुणों को तुरन्त पार कर लेता है और ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।”

नियमित भक्ति करते रहने के कारण भक्त को जीवन की दिव्य स्थिति प्राप्त होती है। उसका मन अध्यात्म में लगा रहने के कारण वह भगवान् के चरणकमलों के अतिरिक्त कुछ और सोच ही नहीं

सकता। *संस्मरण-अनुपूर्त्या* शब्द का अर्थ यही है। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर चिन्तन करते हुए भक्त अविलम्ब शुद्ध सत्त्व में स्थित हो जाता है। *शुद्ध सत्त्व* वह पद है, जो सतो गुण समेत प्रकृति के गुणों से ऊपर होता है। इस भौतिक जगत में सतो गुण परम सिद्धि का सूचक है, किन्तु मनुष्य को इस गुण को भी लाँघकर *शुद्ध सत्त्व* अवस्था तक पहुँचना होता है, जहाँ भौतिक प्रकृति के तीनों गुण अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—यदि किसी की पाचन शक्ति प्रबल है, तो भोजन करने के पश्चात् उसके उदर में स्वतः इतनी अग्नि उत्पन्न हो जाती है कि बिना किसी ओषधि के सब कुछ पच सकता है। इसी प्रकार भक्ति की अग्नि इतनी प्रबल होती है कि भक्त को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने या भौतिक आकर्षण से विरक्ति के लिए अलग से कुछ नहीं करना होता। ज्ञानी ज्ञान के विषय में दीर्घकाल तक विवेचन करते रहने से भौतिक आकर्षणों से विरक्त हो सकता है और अन्त में इस तरह *ब्रह्मभूत* अवस्था तक पहुँच सकता है, किन्तु भक्त को यह सब झंझट नहीं करनी पड़ती। अपनी भक्ति के बल पर वह बिना किसी शंका के *ब्रह्मभूत* अवस्था को प्राप्त होता है। योगी तथा ज्ञानी अपनी स्वाभाविक स्थिति के सम्बन्ध में सदैव संशयग्रस्त रहते हैं, इसीलिए वे अपने को गलती से परमेश्वर से एक हो जाने की सोचते रहते हैं। किन्तु भक्त का परमेश्वर से सम्बन्ध निःसंशय रूप से स्पष्ट रहता है और उसे तुरन्त समझ में आ जाता है कि उसकी स्थिति नितान्त दास की है। ज्ञानी तथा योगी भक्ति के बिना अपने को मुक्त समझ सकते हैं, किन्तु उनकी बुद्धि भक्त जितनी विमल नहीं होती। दूसरे शब्दों में, ज्ञानी तथा योगी जब तक भक्तों की स्थिति को प्राप्त नहीं हो लेते तब तक वास्तव में मुक्त नहीं हो सकते। *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) का कथन है—

*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः*

*पतन्त्यधोऽनाहतयुष्मदङ्घ्रियः ।*

ज्ञानी तथा योगी ब्रह्मसाक्षात्कार के सर्वोच्च पद तक उठ सकते हैं, किन्तु भगवान् के चरणारविन्द के प्रति भक्ति के अभाव में वे पुनः भौतिक प्रकृति में आ गिरते हैं। अतः ज्ञान तथा योग को मुक्ति की असली विधि नहीं मान लेना चाहिए। महाराज पृथु ने भक्ति के द्वारा इन स्थितियों को स्वतः लाँघ लिया था। चूँकि वे भगवान् के *शक्त्यावेश* अवतार थे, अतः मुक्ति पाने के लिए उन्हें कुछ नहीं करना पड़ा।

वे पृथ्वी पर भगवान् की इच्छापूर्ति हेतु वैकुण्ठ लोक से आये थे, फलतः उन्हें ज्ञान, योग या कर्म किये बिना ही भगवान् के धाम को वापस जाना था। यद्यपि पृथु महाराज भगवान् के शुद्ध भक्त थे, फिर भी उन्होंने लोगों को जीवन के कर्तव्यों को सही ढंग से सम्पन्न करने तथा अन्ततः भगवान् के धाम वापस जाने की समुचित विधि सिखाने के लिए भक्ति की प्रक्रिया स्वीकार की।

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह-

स्तत्तत्त्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन ।

तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो

यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

छिन्न—पृथक् होकर; अन्य-धीः—जीवन के अन्य बोध ( देहात्म बुद्धि ); अधिगत—पूर्ण आश्रित होकर; आत्म-गतिः—आध्यात्मिक जीवन का चरम लक्ष्य; निरीहः—इच्छारहित; तत्—उसे; तत्त्यजे—त्याग दिया; अच्छिनत्—काट दिया था; इदम्—यह; वयुनेन—ज्ञान से; येन—जिससे; तावत्—तब तक; न—कभी नहीं; योग-गतिभिः—योग पद्धति का अभ्यास; यतिः—अभ्यास करने वाला; अप्रमत्तः—बिना किसी भ्रम के; यावत्—जब तक; गदाग्रज—कृष्ण का; कथासु—शब्द; रतिम्—आकर्षण; न—कभी नहीं; कुर्यात्—इसे करो।

जब महाराज पृथु देहात्मबुद्धि से पूर्ण रूप से मुक्त हो गये तो उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में स्थित देखा। इस प्रकार उनसे सारे आदेश पाने में समर्थ होने पर उन्होंने योग तथा ज्ञान की अन्य सारी विधियाँ त्याग दीं। ज्ञान तथा योग की सिद्धियों में भी उनकी रुचि नहीं रह गई, क्योंकि उन्होंने पूरी तरह यह अनुभव किया कि जीवन का चरम लक्ष्य तो श्रीकृष्ण की भक्ति है और जब तक योगी तथा ज्ञानी कृष्णकथा के प्रति आकृष्ट नहीं होते, संसार सम्बन्धी उनके सारे भ्रम ( मोह ) कभी भी दूर नहीं हो सकते।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य देहात्मबुद्धि में अत्यधिक लीन रहता है, तब तक वह आत्म-साक्षात्कार की अनेकानेक विधियों में रुचि लेता रहता है, यथा योग विधि या चिन्तन इत्यादि। किन्तु जब मनुष्य समझ लेता है कि जीवन का परम लक्ष्य श्रीकृष्ण तक पहुँचना है, तो वह अपने हृदय के भीतर कृष्ण का अनुभव करने लगता है और कृष्णभावनामृत में स्थित प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करने लगता है। वास्तव में जीवन की पूर्णता श्रीकृष्ण के विषय में सुनने की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है—यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्। जब तक मनुष्य कृष्ण में तथा उनकी लीलाओं में रुचि नहीं रखता तब तक योग विधि से या ज्ञान द्वारा मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

भक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद महाराज पृथु को ज्ञान तथा योग की विधियों में अरुचि हो गई, अतः उन्हें त्याग दिया। यह शुद्ध भक्तिमय जीवन की अवस्था है, जिसका वर्णन रूप गोस्वामी ने किया है—

*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्मघनावृतम् ।*

*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥*

वास्तविक ज्ञान का अर्थ यह समझ लेना है कि जीवात्मा भगवान् का नित्य दास है। यह ज्ञान अनेकानेक जन्मों के बाद प्राप्त होता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१९) में हुई है— *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।* परमहंस अवस्था में मनुष्य कृष्ण को ही सब कुछ मान लेता है— *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।* जब मनुष्य समझने लगता है कि श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं और कृष्णभक्ति (चेतना) ही जीवन की परम सिद्धि है, तो वह परमहंस या महात्मा हो जाता है। ऐसा महात्मा या परमहंस दुर्लभ होता है। परमहंस या शुद्ध भक्त कभी भी हठयोग या चिन्तन के प्रति आकर्षित नहीं होता। वह तो भगवान् की अमिश्रित भक्ति में ही रुचि रखता है। इन विधियों का पूर्व-अभ्यस्त व्यक्ति कभी कभी भक्ति के साथ-साथ ज्ञान तथा योग का भी अभ्यास करता है, किन्तु ज्योंही वह अमिश्रित भक्ति की अवस्था को प्राप्त होता है, वह आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को त्याग देता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य जब एक बार श्रीकृष्ण को सुस्पष्ट रूप से चरम लक्ष्य समझ लेता है, वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग या चिन्तन विधियों से मुख मोड़ लेता है।

एवं स वीरप्रवरः संयोज्यात्मानमात्मनि ।

ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम् ॥ १३ ॥

**शब्दार्थ**

एवम्—इस प्रकार; सः—उसने; वीर-प्रवरः—वीरों में श्रेष्ठ; संयोज्य—प्रयुक्त करके; आत्मानम्—मन को; आत्मनि—परमात्मा में; ब्रह्म-भूतः—मुक्त होकर; दृढम्—दृढ़तापूर्वक; काले—समय आने पर; तत्याज—त्याग दिया; स्वं—अपना; कलेवरम्—शरीर।

समय आने पर जब पृथु महाराज को अपना शरीर त्याग करना था उन्होंने अपने मन को दृढ़तापूर्वक श्रीकृष्ण के चरणकमलों में स्थिर कर लिया और इस प्रकार से ब्रह्मभूत अवस्था में स्थित होकर उन्होंने भौतिक शरीर त्याग दिया।

**तात्पर्य :** एक बंगाली कहावत के अनुसार जीवन में मनुष्य जितनी आध्यात्मिक उन्नति करता है,



उसकी परीक्षा मृत्यु के समय होगी। *भगवद्गीता* (८.६) में भी इसकी पुष्टि हुई है—*यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।* कृष्णभक्ति करने वाले जानते हैं कि उनकी परीक्षा मृत्यु के समय होनी है। यदि मरते समय भी कोई कृष्ण का स्मरण कर सकता है, तो उसे गोलोक वृन्दावन या कृष्णलोक मिलता है और इस प्रकार उसका जीवन सफल हो जाता है। पृथु महाराज जब कृष्ण के अनुग्रह से जान गये कि उनका काल निकट है, तो वे अत्यन्त आनन्दित हो उठे और ब्रह्मभूत अवस्था में योग-विधि का अभ्यास करते हुए अपना शरीर त्यागने के लिए सन्नद्ध हो गये। अगले श्लोकों में इसका पूरा वर्णन है कि स्वेच्छा से अपने शरीर को त्याग कर भगवान् के धाम को कैसे जाया जा सकता है। पृथु महाराज की भाँति मृत्यु के समय किये गये योगाभ्यास से मनुष्य शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ होते हुए भी शरीर को जल्दी से त्याग सकता है। प्रत्येक भक्त शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वस्थ रहते हुए शरीर त्यागना चाहता है। राजा कुलशेखर ने भी *मुकुन्द-माला-स्तोत्र* में यही कामना व्यक्त की थी—

*कृष्ण त्वदीयपदपंकज-पञ्जरान्तम्*

*अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।*

*प्राण-प्रयाणसमये कफवातपित्तैः*

*कण्ठावरोधन-विधौ स्मरणं कुतस्ते ॥*

राजा कुलशेखर स्वस्थ रहते हुए अपना शरीर छोड़ना चाहते थे, अतः उन्होंने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि वे शरीर तथा मन से स्वस्थ रहते ही उन्हें तुरन्त मरने दें। जब मनुष्य मरता है, तो प्रायः वात, पित्त तथा कफ से उसका कण्ठ रुद्ध हो जाता है। चूँकि कण्ठ रुद्ध होने पर उच्चारण कर पाना दुष्कर हो जाता है, अतः श्रीकृष्ण की कृपा से ही मृत्यु के समय हरे-कृष्ण का जप हो पाता है। किन्तु अपने को मुक्तासन-स्थिति में रखकर योगी तुरन्त शरीर त्याग देता है और जिस लोक में चाहता है चला जाता है। सिद्ध योगी योग के बल से इच्छानुसार देह का त्याग कर सकता है।

**सम्पीड्य पायुं पार्थिवाभ्यां वायुमुत्सारयञ्छनैः ।**

**नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि ॥ १४ ॥**

**शब्दार्थ**

सम्पीड्य—रोककर; पायुम्—गुदाद्वार; पार्ष्णिभ्याम्—एड़ी से; वायुम्—ऊपर जाने वाली वायु को; उत्सारयन्—ऊपर धकेलकर; शनैः—धीरे-धीरे; नाभ्याम्—नाभि से; कोष्ठेषु—हृदय तथा कण्ठ में; अवस्थाप्य—स्थिर करके; हृत्—हृदय में; उरः—ऊपर की ओर; कण्ठ—गला, कंठ; शीर्षणि—दोनों भौहों के मध्य ( मस्तक ) में।

जब महाराज पृथु ने विशेष यौगिक आसन साधा तो उन्होंने अपनी एड़ियों से अपना गुदाद्वार बन्द कर लिया और दोनों एड़ियों को दबाया, फिर धीरे-धीरे प्राणवायु को नाभिचक्र से होते हुए वे हृदय तथा कण्ठ तक ऊपर की ओर ले गये और अन्त में उसे दोनों भौहों के मध्य पहुँचा दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर जिस आसन का वर्णन है, वह मुक्तासन है। योग विधि में निद्रा, भोजन तथा मैथुन को वश में करने वाले कठोर विधि-विधानों का पालन करने के बाद विभिन्न आसनों की अनुमति दी जाती है। योगी का चरम लक्ष्य इच्छानुसार अपने शरीर का त्याग करने में समर्थ होना है। जिसने योगाभ्यास में सिद्धि प्राप्त कर ली है, वह जब तक चाहता है शरीर में रहता है या जब तक वह पूर्ण नहीं होता, शरीर को ब्रह्माण्ड के भीतर या बाहर, जहाँ भी चाहे जाने देता है, जा सकता है। कुछ योगी अपना शरीर उच्चतर लोकों में जाकर वहाँ की भौतिक सुविधाओं का भोग करने के लिए छोड़ते हैं। किन्तु बुद्धिमान योगी इस संसार में व्यर्थ अपना समय गँवाना नहीं चाहते, वे उच्चतर लोकों की भौतिक सुविधाओं की भी परवाह नहीं करते। वे तो दिव्याकाश में सीधे भगवान् के धाम पहुँचने में रुचि रखते हैं।

इस श्लोक के वर्णन से पता लगता है कि महाराज पृथु उच्चतर लोकों में जाने के तनिक भी इच्छुक न थे। वे तुरन्त भगवान् के धाम लौटना चाह रहे थे। यद्यपि महाराज पृथु ने कृष्णभक्ति की प्राप्ति के पश्चात् समस्त योगाभ्यास बन्द कर दिया था, फिर भी उन्होंने पूर्व अभ्यास का लाभ उठाते हुए भगवान् के धाम जल्दी लौट जाने के लिए अपने आपको ब्रह्मभूत पद पर स्थापित कर लिया। इस विशेष प्रकार के आसन, मुक्तासन, का उद्देश्य कुण्डलिनी चक्र पर विजय प्राप्त करना है तथा धीरे-धीरे प्राण को मूलाधार चक्र से स्वाधिष्ठान चक्र और फिर मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र तथा अन्त में आज्ञा चक्र तक ले जाना है। जब योगी दोनों भौहों के मध्य आज्ञाचक्र में पहुँच जाता है, तो वह ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने में सक्षम होता है और तब वह किसी भी लोक को, वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक तक जा सकता है। कहने का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को भगवान् के धाम वापस जाने के लिए ब्रह्मभूत अवस्था पर पहुँचना होता है। किन्तु जो लोग कृष्णभक्ति करते हैं या भक्तियोग का

अभ्यास करते हैं ( श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ) वे मुक्तासन का अभ्यास किये बिना ही भगवान् के पास लौट जाते हैं। मुक्तासन का उद्देश्य ब्रह्मभूत अवस्था तक जाना है, क्योंकि बिना ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त किये कोई भी दिव्याकाश में नहीं जा सकता। भगवद्गीता (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

भक्तियोग का अभ्यास करने वाला भक्तियोगी निरन्तर ब्रह्मभूत अवस्था में स्थित रहता है ( ब्रह्मभूयाय कल्पते )। यदि भक्त ब्रह्मभूत पद पर रह सकता है, तो वह मृत्यु के बाद स्वतः दिव्याकाश में प्रवेश करता है और भगवान् के पास वापस चला जाता है, अतः भक्त को इसका खेद नहीं होना चाहिए कि वह कुण्डलिनी चक्र का अभ्यास नहीं कर पाया अथवा एक के पश्चात् एक छहों चक्रों को भेद नहीं सका। जहाँ तक महाराज पृथु की बात है, वे इस विधि का पहले ही अभ्यास कर चुके थे और चूँकि वे अपनी सहज मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने षट्चक्र भेदन की विधि का लाभ उठाया और इच्छानुसार अपने शरीर का त्याग करके दिव्याकाश में प्रवेश किया।

उत्सर्पयन्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः ।

वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत् ॥ १५ ॥

#### शब्दार्थ

उत्सर्पयन्—इस प्रकार स्थापित करते हुए; तु—लेकिन; तम्—वायु को; मूर्ध्नि—सिर में; क्रमेण—धीरे-धीरे; आवेश्य—रखते हुए; निःस्पृहः—समस्त इच्छाओं से मुक्त होकर; वायुम्—शरीर के वायु भाग को; वायौ—ब्रह्माण्डकोश की समग्र वायु में; क्षितौ—सम्पूर्ण पृथ्वीकोश में; कायम्—भौतिक शरीर को; तेजः—शरीर की अग्नि; तेजसि—भौतिक कोश की सम्पूर्ण अग्नि में; अयूयुजत्—मिला दिया।

इस प्रकार पृथु महाराज अपने प्राणवायु को धीरे धीरे ब्रह्मरन्ध्र तक ऊपर ले गये जिससे उनकी समस्त सांसारिक आकांक्षाएँ समाप्त हो गईं। उन्होंने धीरे-धीरे अपने प्राण वायु को समष्टि वायु में, अपने शरीर को समष्टि पृथ्वी में और अपने शरीर की अग्नि ( तेज ) को समष्टि अग्नि में लीन कर दिया।

तात्पर्य : आध्यात्मिक चिनगारी ( ब्रह्मज्योति ), जो बाल की नोक के दस हजारवें भाग के बराबर बताई जाती है, इस भौतिक संसार में बलपूर्वक भेजी जाती है। यह चिनगारी स्थूल भौतिक तथा सूक्ष्म

तत्त्वों से ढक जाती है। भौतिक शरीर पाँच स्थूल तत्त्वों—क्षिति, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश (ईश्वर)—तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों—मन, बुद्धि तथा अहंकार—से बना होता है। जब मनुष्य को मुक्ति मिलती है, तो वह इन भौतिक कोशों (आवरणों) से बाहर निकल जाता है। दरअसल, योग की सफलता इन भौतिक आवरणों से मुक्ति पाने तथा आध्यात्मिक जगत में प्रविष्ट होने में निहित है। भगवान् बुद्ध की निर्वाण सम्बन्धी शिक्षाएँ इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। उन्होंने अपने शिष्यों को ध्यान तथा योग के सहारे इन भौतिक आवरणों को त्यागने की शिक्षा दी। उन्होंने आत्मा के विषय में कोई सूचना नहीं दी, किन्तु यदि उनके उपदेशों का ठीक से पालन किया जाये तो मनुष्य भौतिक आवरणों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

जब कोई जीवात्मा भौतिक आवरणों को त्यागता है, तो वह आत्मा के रूप में बना रहता है। इस आत्मा को ब्रह्मज्योति में मिलने के लिए चिन्मय आकाश में प्रवेश करना होता है। दुर्भाग्यवश जब तक जीवात्मा को आध्यात्मिक जगत तथा वैकुण्ठ लोकों की जानकारी नहीं रहती तब तक ९९.९ प्रतिशत सम्भावना यही रहती है कि वह पुनः भौतिक जगत में आ गिरे। किन्तु ब्रह्मज्योति से आध्यात्मिक लोक में जाने की सम्भावना बहुत कम होती है। निर्विशेषवादी इस ब्रह्मज्योति में विविधता नहीं मानते और बौद्ध लोग इसे शून्य मानते हैं। प्रत्येक दशा में, चाहे कोई दिव्याकाश को बिना विविधता के माने या शून्य, किन्तु वैकुण्ठ या कृष्णलोक जैसे आध्यात्मिक लोकों में जो दिव्य आनन्द है, वह वहाँ नहीं मिलता। विभिन्न प्रकार के आनन्द प्राप्त न होने पर आत्मा जीवन का आनन्द भोगने के लिए आकृष्ट होता है और कृष्णलोक या वैकुण्ठलोक की कोई जानकारी न होने से वह भौतिक कार्यकलापों में आ गिरता है, जिससे वह भौतिक सुख भोग सके।

खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः ।

क्षितिमम्भसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम् ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

खानि—शरीर में विभिन्न इन्द्रियों के द्वार ( छिद्र ); आकाशे—आकाश में; द्रवम्—तरल पदार्थ; तोये—जल में; यथा-स्थानम्—उपयुक्त स्थान पर; विभागशः—जिस प्रकार वे विभाजित हैं; क्षितिम्—पृथ्वी; अम्भसि—जल में; तत्—वह; तेजसि—अग्नि में; अदः—अग्नि; वायौ—वायु में; नभसि—आकाश में; अमुम्—उस ।

इस प्रकार पृथु महाराज ने अपनी इन्द्रियों के छिद्रों को आकाश में और अपने शरीर के द्रवों, यथा रक्त तथा विभिन्न स्रावों को, समष्टि जल में, पृथ्वी को जल में, फिर जल को अग्नि में,

अग्नि को वायु में और वायु को आकाश में मिला दिया ( लीन कर दिया )।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में महत्त्वपूर्ण शब्द हैं— *यथास्थानं विभागशः । श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध के पंचम अध्याय में ब्रह्मा ने नारद से स्पष्ट बताया है कि सृष्टि कैसे बनी और फिर इन्द्रियों के विभाग, इन्द्रियों के नियामक, इन्द्रियों के पदार्थ (तन्मात्रा) तथा भौतिक तत्त्व इत्यादि को एक-एक करके समझाया है। उन्होंने यह भी बताया है कि वे एक के पश्चात् एक—वायु आकाश से, अग्नि वायु से, जल अग्नि से, पृथ्वी जल से, किस प्रकार उत्पन्न हुए। सृष्टि की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है, जैसे जैसे यह दृश्य जगत पर लागू होता है। इसी प्रकार परमेश्वर द्वारा यह शरीर भी उसी प्रक्रिया से उत्पन्न किया जाता है। ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके भगवान् इस दृश्य जगत की उत्पत्ति उत्तरोत्तर करते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा माता के गर्भ में प्रवेश करके अपने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर को समष्टि आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से अवयवों को ग्रहण करके संचित करता है। *यथास्थानं विभागशः* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को सृष्टि-प्रक्रिया समझनी चाहिए और इस सृष्टि प्रक्रिया के विलोम-क्रम पर विचार करना चाहिए जिससे भौतिक कल्मष से मुक्त हुआ जा सके।

इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम् ।

भूतादिनामून्युत्कृष्य महत्यात्मनि सन्दधे ॥ १७ ॥

**शब्दार्थ**

इन्द्रियेषु—इन्द्रियों में; मनः—मन; तानि—इन्द्रियों को; तत्-मात्रेषु—इन्द्रियों के पदार्थों में; यथा-उद्भवम्—जहाँ से उनकी उत्पत्ति हुई; भूत-आदिना—पाँचों तत्त्वों द्वारा; अमूनि—वे सारे इन्द्रिय पदार्थ ( तन्मात्राएँ ); उत्कृष्य—बाहर निकाल कर; महति—महत्त्व में; आत्मनि—अहंकार को; सन्दधे—लीन कर दिया।

उन्होंने स्थितियों के अनुसार मन को इन्द्रियों में और इन्द्रियों को इन्द्रियपदार्थों ( तन्मात्राओं ) में और अहंकार को समष्टि भौतिक शक्ति, महत् तत्त्व, में लीन कर दिया।

**तात्पर्य :** जहाँ तक अहंकार का प्रश्न है, सम्पूर्ण भौतिक शक्ति दो भागों में प्राप्त की जाती है— एक तो तमोगुण से विक्षुब्ध होकर तथा दूसरा रजोगुण तथा सतोगुण से विक्षुब्ध होकर। तमोगुण के विक्षोभ से पाँचों स्थूल तत्त्व उत्पन्न होते हैं। रजोगुण के विक्षोभ से मन और सतोगुण के विक्षोभ से मिथ्या अहंकार उत्पन्न होता है। मन की रक्षा एक विशेष देवता द्वारा होती है। कभी-कभी मन का अधीक्षक कोई देव या देवता भी माना जाता है। इस प्रकार समष्टि मन अर्थात् भौतिक देवता द्वारा नियंत्रित भौतिक मन इन्द्रियों में लीन कर दिया गया। इन्द्रियों को इन्द्रिय-पदार्थों ( तन्मात्राओं ) में लीन

किया गया। इन्द्रिय पदार्थ हैं—रूप, स्वाद, गंध, शब्द इत्यादि। शब्द (नाद) ही इन्द्रिय-पदार्थों का चरम स्रोत है। मन इन्द्रियों द्वारा और इन्द्रियाँ तन्मात्राओं द्वारा आकर्षित हुईं और इन सबों को अन्त में आकाश में लीन कर दिया गया। सृष्टि इस प्रकार से सुनियोजित है कि कारण तथा कार्य एक के बाद एक आते रहते हैं। प्रलय प्रक्रिया में मूल कार्य एवं कारण समाहित रहता है। चूँकि भौतिक जगत में चरम कारण महत् तत्त्व है, अतः प्रत्येक वस्तु क्रमशः समाप्त होकर महत् तत्त्व में लीन हो गई। इसकी तुलना शून्यवाद से की जा सकती है, किन्तु यह तो असली आध्यात्मिक मन या चेतना को शुद्ध करने की विधि है।

जब मन के समस्त भौतिक कल्मष धुल जाते हैं, तो शुद्ध चेतना काम करने लगती है। दिव्याकाश की ध्वनि लहरी (नाद) स्वतः ही समस्त कल्मषों को धो सकती है, जिसकी पुष्टि चैतन्य महाप्रभु ने की है—चेतो-दर्पण-मार्जनम्। समस्त भौतिक कल्मषों को मन से धो डालने के लिए हमें चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और हरे कृष्ण मंत्र का जप करना चाहिए। इस कठिन श्लोक का यही सारांश समझना चाहिए। ज्योंही जप की इस विधि से सारा भौतिक कल्मष धुल जाता है, त्योंही सारी इच्छाएँ तथा भौतिक कर्मों के फल लुप्त हो जाते हैं और असली शान्तिप्रद जीवन प्रारम्भ हो जाता है। इस कलियुग में इस श्लोक में वर्णित योग-विधि को सम्पन्न कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। जब तक कोई ऐसे योग में पटु न हो, सर्वोत्तम यही है कि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की विधि को अपनाया जाये और यह विधि है श्रीकृष्ण संकीर्तनम्। इस प्रकार हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, मंत्र के जप की सरल विधि से समस्त भौतिक कल्मषों से मुक्त हुआ जा सकता है। जिस तरह इस भौतिक संसार का प्रारम्भ भौतिक शब्द (नाद) से होता है उसी तरह आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ आध्यात्मिक शब्द (नाद) से होता है।

तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात्  
तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान् ।  
ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभुः ॥ १८ ॥

#### शब्दार्थ

तम्—उसको; सर्व-गुण-विन्यासम्—समस्त गुणों के अगार; जीवे—उपाधियों को; माया-मये—समस्त शक्तियों का आगार;  
न्यधात्—स्थित किया; तम्—उस; च—भी; अनुशयम्—उपाधि; आत्म-स्थम्—आत्म-साक्षात्कार में स्थित; असौ—वह;

अनुशयी—जीवात्मा; पुमान्—भोक्ता; ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—विरक्ति; वीर्येण—वीर्य से; स्वरूप-स्थः—अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थित; अजहात्—धाम को वापस गया; प्रभुः—नियन्ता के।

तब पृथु महाराज ने जीवात्मा की सम्पूर्ण उपाधि माया के परम प्रभु ( नियन्ता ) को सौंप दी। ज्ञान तथा वैराग्य एवं भक्ति की आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा वे जीवात्मा की उन समस्त उपाधियों से मुक्त हो गये, जिनसे वे घिरे थे। इस प्रकार कृष्णभावना की अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति ( स्वरूप-स्थिति ) में रहकर उन्होंने प्रभु ( इन्द्रियों के नियन्ता ) के रूप में अपने शरीर को त्याग दिया।

तात्पर्य : जैसाकि वेदों में कथित है भगवान् ही भौतिक शक्ति के स्रोत हैं। इसीलिए उन्हें कभी-कभी *मायामय* कहा जाता है, जिसका अर्थ है, वह परम पुरुष जो अपनी भौतिक शक्ति से लीलाएँ करता है। भगवान् की परम इच्छा से जीव भौतिक शक्ति के फन्दे में आ जाता है। *भगवद्गीता* से (१८.६१) हमें पता चलता है—

*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।*

*भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥*

ईश्वर समस्त बद्धजीवों के हृदय में स्थित हैं और उन्हीं की परम इच्छा से जीवात्मा विभिन्न प्रकार के शरीरों में भौतिक प्रकृति के ऊपर शासन करने की सुविधा प्राप्त करता है। शरीर एक चलायमान यंत्र है, जो सम्पूर्ण भौतिक माया द्वारा प्रदत्त है। यद्यपि जीव तथा भगवान् दोनों ही भौतिक शक्ति (माया) के अन्तर्गत स्थित हैं, किन्तु भगवान् जीव को माया द्वारा विविध शरीर प्रदान करके उसकी गतियों को निर्देशित करता है। इस प्रकार जीव सारे ब्रह्माण्डों में विविध शरीर-रूपों में भ्रमण करता है और कर्मफलों में भाग लेते हुए विभिन्न स्थितियों में फँसता रहता है।

जब पृथु महाराज ज्ञान की वृद्धि तथा इच्छाओं से विरक्ति के कारण आध्यात्मिक रूप से सशक्त हो गये तो वे प्रभु अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी ( कभी-कभी गोस्वामी या स्वामी भी ) हो गये। इसका अर्थ यह हुआ कि अब वे माया द्वारा नियंत्रित नहीं हो रहे थे। जब मनुष्य इतना प्रबल हो जाता है कि माया का प्रभाव त्याग सके तो वह प्रभु कहलाता है। इस श्लोक का स्वरूपस्थः शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक जीव की वास्तविक पहचान यह है कि वह यह समझे कि मैं कृष्ण का शाश्वत दास हूँ। यह ज्ञान स्वरूपोपलब्धि कहलाता है। भक्ति करते रहने से भक्त धीरे-धीरे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को

समझने लगता है। अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति का यह ज्ञान ही स्वरूपोपलब्धि है और जब कोई इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तो वह समझ सकता है कि वह भगवान् के साथ किस रूप में अर्थात् दास, मित्र या पिता अथवा प्रेमी के रूप में सम्बन्धित है। यह समझ *स्वरूपस्थः* कहलाती है। पृथु महाराज को इस स्वरूप का अच्छी तरह ज्ञान था और अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जाएगा कि उन्होंने स्वयं ही इस संसार या शरीर को वैकुण्ठ से आये रथ पर चढ़कर छोड़ दिया।

इस श्लोक में *प्रभु* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि जब कोई पूर्ण रूप से स्वरूपसिद्ध हो जाता है और उसी स्थिति के अनुसार कार्य करता है, तो वह *प्रभु* कहलाता है। गुरु को “प्रभुपाद” कहा जाता है, क्योंकि वह पूर्ण रूप से स्वरूपसिद्ध जीव होता है। पाद का अर्थ है “स्थान या पद” अतः *प्रभुपाद* से सूचित होता है कि उसे प्रभु या भगवान् का पद प्रदान किया गया है, क्योंकि वह भगवान् की ओर से कार्य करता है। जब तक कोई इन्द्रियों का नियामक अथवा प्रभु नहीं होता वह गुरु की तरह कार्य नहीं कर सकता जिसे परम प्रभु भगवान् कृष्ण द्वारा अधिकृत किया होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की प्रशंसा में कहा है—

*साक्षाद् धरित्वेन समस्त शास्त्रैर-*

*रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः ।*

“गुरु को परमेश्वर के ही समान आदर प्राप्त है, क्योंकि वह भगवान् का अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक है।” इस प्रकार पृथु महाराज को भी प्रभुपाद या प्रभु कहा जा सकता है जैसाकि यहाँ पर कहा गया है। इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रश्न पूछा जा सकता है। चूँकि पृथु महाराज भगवान् के *शक्त्यावेशावतार* थे, अतः प्रभु बनने के लिए उन्हें विधि-विधानों को सम्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी? चूँकि वे इस पृथ्वी पर आदर्श राजा के रूप में प्रकट हुए थे और चूँकि राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को भक्ति करने का आदेश दे, अतः उन्होंने अन्यो को शिक्षा देने के लिए भक्ति के विधि-विधानों का पालन किया। इसी प्रकार यद्यपि चैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण थे, किन्तु उन्होंने हमें शिक्षा दी कि किस प्रकार भक्त के रूप में श्रीकृष्ण तक पहुँचा जाये। कहा गया है *आपनि आचरि’ भक्ति शिखाइनु सबारे।* भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने अपने व्यक्तिगत कार्यों के माध्यम से आदर्श प्रस्तुत करते हुए अन्यो के समक्ष भक्ति की विधि की शिक्षा दी। इसी प्रकार से पृथु महाराज यद्यपि *शक्त्यावेश*



अवतार थे, प्रभु का पद प्राप्त करने के लिए एक भक्त सा आचरण किया। यही नहीं, स्वरूपस्थः का अर्थ है “पूर्ण मोक्ष” जैसाकि भागवत (२.१०.६) में कहा गया है—*हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—जब जीव माया के कार्यों का परित्याग कर देता है और ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है, जिसमें वह भक्ति कर सके तो उसकी यह अवस्था स्वरूपस्थः या पूर्णमोक्ष कहलाती है।

अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम् ।

सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

अर्चिः नाम—अर्चि नामक; महा-राज्ञी—महारानी; तत्-पत्नी—महाराज पृथु की पत्नी; अनुगता—अपने पति के साथ जाने वाली; वनम्—वन को; सु-कुमारी—अत्यन्त कोमल शरीर वाली; अ-तत्-अर्हा—योग्य न होना; च—भी; यत्-पद्भ्याम्—जिसके चरण से; स्पर्शनम्—स्पर्श; भुवः—पृथ्वी पर।

पृथु महाराज की पत्नी महारानी अर्चि अपने पति के साथ वन को गई थीं। महारानी होने के कारण उनका शरीर अत्यन्त कोमल था। यद्यपि वे वन में रहने के योग्य न थीं, किन्तु उन्होंने स्वेच्छा से अपने चरणकमलों से पृथ्वी का स्पर्श किया।

तात्पर्य : पृथु महाराज की पत्नी महारानी और राजा की पुत्री भी थीं, अतः उन्हें पृथ्वी पर चलने का अनुभव न था, क्योंकि महारानियाँ महलों के बाहर निकलती ही नहीं थीं। वे जंगलों में तो नहीं ही गई थीं और उस सूनसान में रहने की कठिनाइयों का अनुभव नहीं किया था। वैदिक सभ्यता में महारानियों द्वारा ऐसे त्याग एवं पति के प्रति निष्ठा के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। जब रामचन्द्र वन को गये तो माता सीता भी पति के साथ-साथ गई। भगवान् रामचन्द्र अपने पिता के आज्ञापालन हेतु वन गये थे, किन्तु माता सीता को ऐसा कोई आदेश नहीं था। फिर भी उन्होंने स्वेच्छा से अपने पति के मार्ग का अनुसरण किया। इसी प्रकार राजा धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी भी अपने पति के साथ वन को गई। पृथु, भगवान् रामचन्द्र तथा धृतराष्ट्र जैसे महापुरुषों की पत्नियाँ होने के कारण वे सभी आदर्श पतिव्रता स्त्रियाँ थीं। ऐसी महारानियों ने भी सामान्य लोगों को, यह दिखाकर कि किस प्रकार पतिव्रता बन कर जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में पति का अनुगमन करना चाहिए, शिक्षाएँ दी हैं। यदि पति राजा होता है, तो वे उसके पार्श्व में महारानी की तरह बैठती हैं और यदि वह वन को जाता है, तो वे उसका अनुगमन करती हैं, भले ही वन में उन्हें कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें। इसलिए यहाँ यह कहा गया है (अतद्-अर्हा) कि यद्यपि वे अपना पाँव भूमि पर नहीं रखना चाहती थीं तो भी जब वे अपने पति

के साथ वन को गई उन्होंने सारे कष्ट अंगीकार किये।

अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया

शुश्रूषया चार्षदेहयात्रया ।

नाविन्दतार्तिं परिकर्षितापि सा

प्रेयस्करस्पर्शनमाननिर्वृतिः ॥ २० ॥

#### शब्दार्थ

अतीव—अत्यधिक; भर्तुः—पति का; व्रत-धर्म—सेवा का व्रत; निष्ठया—संकल्प से; शुश्रूषया—सेवा से; च—भी; आर्ष—ऋषि के समान; देह—शरीर; यात्रया—रहन-सहन; न—नहीं; अविन्दत—देखा; आर्तिम्—कोई कष्ट; परिकर्षिता अपि—दुर्बल होने पर भी; सा—वह; प्रेयः-कर—अत्यन्त सुखद; स्पर्शन—स्पर्श; मान—लगा हुआ; निर्वृतिः—आनन्द।

यद्यपि महारानी अर्चि ऐसे कष्टों को सहने की अभ्यस्त न थीं, तो भी वन में रहने के अनुष्ठानादि में उन्होंने ऋषियों की तरह अपने पति का साथ दिया। वे भूमि पर शयन करतीं और केवल फल, फूल और पत्तियाँ खातीं। चूँकि वे इन कार्यों के लिए उपयुक्त न थीं, अतः वे अत्यन्त दुर्बल हो गईं। फिर भी अपने पति की सेवा करने से उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता था उसके कारण उन्हें किसी कष्ट का अनुभव नहीं होता था।

तात्पर्य : भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया शब्द सूचित करते हैं कि स्त्री का धर्म है कि सभी परिस्थितियों में पति की सेवा करे। वैदिक सभ्यता में जीवन के प्रारम्भ से ही मनुष्य को ब्रह्मचारी, फिर आदर्श गृहस्थ, तब वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी बनने की शिक्षा दी जाती है। स्त्री को सभी परिस्थितियों में पति का अनुगमन करने की शिक्षा दी जाती है। ब्रह्मचर्य अवस्था के बाद मनुष्य गृहस्थ जीवन अपनाता है। स्त्री को भी माता-पिता द्वारा शिक्षा दी जाती है कि वह पतिव्रता पत्नी बने। इस प्रकार जब लड़की तथा लड़के का गठबंधन किया जाता है, तो दोनों को उच्च उद्देश्य के लिए जीवन अर्पित करने की शिक्षा दी जाती है। लड़के को शिक्षा दी जाती है कि वह जीवन के इस महदुद्देश्य के लिए अपना कर्तव्य निबाहे और लड़की से कहा जाता है कि वह पति का अनुगमन करे। पतिव्रता स्त्री का कर्तव्य है कि गृहस्थ जीवन में वह अपने पति को सभी प्रकार से प्रसन्न रखे। और जब पति पारिवारिक जीवन से निवृत्त हो, तो वह वन जाये और वानप्रस्थ जीवन या वनवासी जीवन बिताए। उस समय पत्नी को अपने पति के साथ रहकर उसकी वैसी ही देख-भाल करनी चाहिए जैसी कि गृहस्थ जीवन में करती थी। किन्तु जब पति संन्यास ग्रहण करे तो पत्नी को घर लौटकर साध्वी बनकर अपने बच्चों तथा पुत्र-वधुओं के समक्ष

आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए और उन्हें दिखाना चाहिए कि किस प्रकार तपस्वी जीवन बिताया जाये।

जब श्री चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया, तो उनकी पत्नी विष्णुप्रियादेवी ने भी अपने पति के गृहत्याग के कारण तपस्वी जीवन बिताने का व्रत ले लिया, यद्यपि उनकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी। वे माला जपतीं और एक माला पूरी करने के पश्चात् चावल का एक दाना एकत्र करतीं। इस प्रकार वे जितनी बार माला फेरतीं उतने ही चावल एकत्र करतीं, तब उन्हें पकातीं और प्रसाद ग्रहण करतीं। इसे तपस्या कहते हैं। आज भी भारत में विधवाएँ अथवा वे स्त्रियाँ, जिनके पति संन्यास ग्रहण कर लेते हैं, अपने बच्चों के साथ रहते हुए भी तपस्या के नियमों का पालन करती हैं। पृथु महाराज की पत्नी अर्चि पत्नी का धर्म निबाहने के लिए दृढसंकल्प थीं और जब उनके पति वन में थे तो वे केवल फल तथा पत्तियाँ खातीं और भूमि पर लेटती थीं। चूँकि स्त्री का शरीर पुरुष की अपेक्षा अधिक सुकोमल होता है, अतः रानी अर्चि अत्यन्त दुर्बल—परिकर्षिता—हो गई। जब कोई तपस्या करता है, तो उसका शरीर प्रायः दुर्बल हो जाता है। आध्यात्मिक जीवन में मोटा होना कोई गुण नहीं, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में लगे रहने से शरीर की सुविधाएँ—खाना, सोना, संभोग इत्यादि—न्यूनतम हो जाती हैं। जंगल में विधि-विधानों के अनुसार रहने से अत्यन्त दुर्बल हो जाने पर भी रानी अर्चि अप्रसन्न न थीं, क्योंकि उन्हें अपने महान् पति की सेवा का सुअवसर मिल रहा था।

देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं

पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः ।

आलक्ष्य किञ्चित् विलप्य सा सती

चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देहम्—शरीर; विपन्न—पूर्णतया रहित; अखिल—समस्त; चेतन—जीवन से; आदिकम्—लक्षणों; पत्युः—अपने पति के; पृथिव्याः—संसार; दयितस्य—दयालु का; च आत्मनः—तथा अपना; आलक्ष्य—देखकर; किञ्चित्—अत्यल्प; च—तथा; विलप्य—विलाप करके; सा—वह; सती—पतिव्रता; चिताम्—चिता पर; अथ—अब; आरोपयत्—रखा; अद्रि—पर्वत; सानुनि—चोटी पर।

जब महारानी अर्चि ने अपने पति को, जो उनके प्रति तथा पृथ्वी के प्रति अत्यन्त दयालु थे, जीवन के लक्षणों से रहित देखा तो उन्होंने थोड़ा विलाप किया और फिर पर्वत की चोटी पर चिता बनाकर अपने पति के शरीर को उस पर रख दिया।

तात्पर्य : यह देखकर कि उनके पति में जीवन के सभी लक्षण क्षीण हो चुके हैं, महारानी ने थोड़ी

देर तक विलाप किया। *किञ्चित्* का अर्थ है “कुछ समय के लिए।” महारानी को भली भाँति जानती थीं कि उनके पति मरे नहीं थे, भले ही जीवन के लक्षण—गति, बुद्धि तथा इन्द्रिय—बोध बन्द हो चुके थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—

*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।*

*तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥*

“जिस तरह इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बचपन से युवावस्था और फिर वृद्धावस्था में जाता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति कभी ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।”

जब जीव एक शरीर से दूसरे में स्थानान्तरित होता है, जिसे सामान्य रूप से मृत्यु कहते हैं, तो बुद्धिमान मनुष्य कभी विलाप नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि जीव मरा नहीं, केवल एक शरीर से दूसरे में स्थानान्तरित हुआ है। महारानी को अपने पति के शव के साथ वन में अकेला होने के कारण भयभीत होना चाहिए था, किन्तु महान् पुरुष की पत्नी होने के कारण वे क्षण भर तक रोई और तुरन्त समझ गई कि उन्हें अनेक कार्य करने हैं। अतः विलाप में अपना समय न गँवा करके, उन्होंने पर्वत की चोटी पर तुरन्त चिता तैयार की और उस पर अपने पति के शरीर को जलने के लिए रख दिया।

महाराज पृथु को यहाँ *दयित* कहा गया है, क्योंकि वे न केवल इस पृथ्वी के राजा थे, वरन् अपनी सन्तान के समान पृथ्वी की रक्षा करते थे। इसी प्रकार वे अपनी पत्नी की भी रक्षा करते थे। राजा का कर्तव्य होता था कि हर एक को, विशेष रूप से पृथ्वी या जिस भूमि का वह शासक हो तथा प्रजा और परिजनों को सुरक्षा प्रदान करे। चूँकि पृथु महाराज कुशल राजा थे, अतः उन्होंने हर एक को सुरक्षा प्रदान की। इसीलिए उन्हें यहाँ पर *दयित* कहा गया है।

विधाय कृत्यं हृदिनीजलाप्लुता

दत्त्वोदकं भर्तुरुदारकर्मणः ।

नत्वा दिविस्थांस्त्रिदशांस्त्रिः परीत्य

विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादौ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

विधाय—सम्पन्न करके; कृत्यम्—अनुष्ठान; हृदिनी—छोटी नदी के जल में; जल-आप्लुता—अच्छी तरह स्नान करके; दत्त्वा उदकम्—जलाञ्जलि देकर; भर्तुः—अपने पति की; उदार-कर्मणः—जो अत्यन्त उदार था; नत्वा—नमस्कार करके; दिवि-स्थान्—आकाश में स्थित; त्रि-दशान्—तीन करोड़ देवता; त्रिः—तीन बार; परीत्य—परिक्रमा करके; विवेश—प्रवेश किया; वह्निम्—अग्नि में; ध्यायती—ध्यान करती हुई; भर्तृ—अपने पति के; पादौ—दोनों चरणकमल ।

इसके पश्चात् महारानी ने आवश्यक दाह-कृत्य किये और जलाञ्जलि दी। फिर नदी में स्नान करके उन्होंने आकाश स्थित विभिन्न लोकों के विभिन्न देवताओं को नमस्कार किया। तब अग्नि की प्रदक्षिणा की और अपने पति के चरणकमलों का ध्यान करते हुए उन्होंने अग्नि की लपटों में प्रवेश किया।

तात्पर्य : अपने मृत पति की चिता की लपटों में सती पत्नी का प्रवेश सह-गमन कहलाता है। सह-गमन की वैदिक सभ्यता में यह प्रथा अनन्त काल से चली आ रही है, यहाँ तक कि भारत में अंग्रेजी राज्य काल में भी इसका कठोरता से पालन होता रहा। किन्तु धीरे-धीरे इसका ह्रास होता गया, यहाँ तक कि जब पत्नी अपने मृत पति के साथ अग्नि में प्रवेश करने का साहस न करती तो उसके सम्बन्धी उसे अग्नि में झोंकने लगे। इस तरह इस प्रथा को बन्द करना पड़ा। किन्तु आज भी ऐसे छिट-पुट काण्ड होते हैं जहाँ पत्नी स्वेच्छा से अपने पति के साथ अग्नि में भस्म हो जाती है। १९४० ई. के बाद भी हमने एक सती को इस प्रकार मरते देखा है।

विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम् ।  
तुष्टुवुर्वरदा देवैर्देवपत्न्यः सहस्रशः ॥ २३ ॥

#### शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; अनुगताम्—पति के बाद मरते; साध्वीम्—पतिव्रता स्त्री को; पृथुम्—राजा पृथु की; वीर-वरम्—परम योद्धा; पतिम्—पति; तुष्टुवुः—स्तुति की; वर-दाः—वर देने में समर्थ, वरदायिनी; देवैः—देवताओं के साथ; देव-पत्न्यः—देवताओं की पत्नियों ने; सहस्रशः—हजारों।

महान् राजा पृथु की पतिव्रता पत्नी अर्चि के इस वीरतापूर्ण कार्य को देखकर हजारों देवपत्नियों ने प्रसन्न होकर अपने पतियों सहित रानी की स्तुति की।

कुर्वत्यः कुसुमासारं तस्मिन्मन्दरसानुनि ।  
नदत्सुवमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम् ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

कुर्वत्यः—करते हुए; कुसुम-आसारम्—फूलों की वर्षा; तस्मिन्—उसमें; मन्दर—मन्दर पर्वत की; सानुनि—चोटी पर; नदत्सु—बजते हुए; अमर-तूर्येषु—देवताओं के नगाड़े की ध्वनि; गृणन्ति स्म—बातें कर रही थीं; परस्परम्—एक दूसरे से।

उस समय देवता मन्दर पर्वत की चोटी पर आसीन थे। उनकी पत्नियाँ चिता की अग्नि पर

फूलों की वर्षा करने लगीं और एक दूसरे से ( इस प्रकार ) बातें करने लगीं ।

देव्य ऊचुः

अहो इयं वधूर्धन्या या चैवं भूभुजां पतिम् ।  
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

देव्यः ऊचुः—देवों की पत्नियों ( देवियों ) ने कहा; अहो—ओह; इयम्—यह; वधूः—पत्नी; धन्या—धन्य है; या—जो; च—भी; एवम्—जिस तरह; भू—संसार का; भुजाम्—सारे राजाओं का; पतिम्—राजा को; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से; पतिम्—पति को; भेजे—पूजा की; यज्ञ-ईशम्—भगवान् विष्णु को; श्रीः—लक्ष्मी; वधूः—पत्नी; इव—समान ।

देवताओं की पत्नियों ने कहा : महारानी अर्चि धन्य हैं! हम देख रही हैं कि राज राजेश्वर पृथु की इस महारानी ने अपने पति की अपने मन, वाणी तथा शरीर से उसी प्रकार सेवा की है, जिस प्रकार ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी भगवान् यज्ञेश अथवा विष्णु की करती हैं ।

तात्पर्य : इस श्लोक में यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव शब्द सूचित करते हैं कि महारानी अर्चि ने अपने पति की सेवा उसी प्रकार से की जिस तरह ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी भगवान् विष्णु की करती हैं । हम इस संसार के इतिहास में भी देख सकते हैं कि जब भगवान् कृष्ण, जो परम विष्णु हैं, द्वारका में राज्य कर रहे थे तो कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी अपने हाथों से भगवान् की सेवा करती थीं, यद्यपि उनकी सहायता के लिए हजारों दासियाँ रहती थीं । इसी प्रकार वैकुण्ठलोक में लक्ष्मी जी स्वयं नारायण की सेवा करती हैं, यद्यपि भगवान् की सेवा के लिए हजारों भक्त उद्यत रहते हैं । देवताओं की पत्नियाँ भी ऐसा ही करती हैं और पुराने जमाने में सारे मनुष्यों की पत्नियाँ भी ऐसा करती थीं । वैदिक सभ्यता में स्त्री तथा पुरुष मानव निर्मित तलाक जैसे कानून से विलग नहीं होते थे । हमें मानव समाज में पारिवारिक जीवन बनाये रखने की आवश्यकता को समझना चाहिए और तलाक के कृत्रिम कानून का सदा के लिए उन्मूलन कर देना चाहिए । पति तथा पत्नी को कृष्णभक्ति करनी चाहिए और लक्ष्मी-नारायण अथवा कृष्ण-रुक्मिणी का अनुकरण करना चाहिए । इस प्रकार संसार में शान्ति तथा सामंजस्य स्थापित हो सकता है ।

सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती ।  
पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; एषा—यह; नूनम्—अवश्य ही; व्रजति—जा रही है; ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर; अनु—पीछे-पीछे; वैन्यम्—वेन के पुत्र, पृथु; पतिम्—पति; सती—सती; पश्यत—जरा देखो तो; अस्मान्—हमको; अतीत्य—ऊपर से पार करके, लाँघकर; अर्चिः—अर्चि; दुर्विभाव्येन—अकल्पनीय; कर्मणा—कार्यों से।

देवों की पत्नियों ने आगे कहा : जरा देखो तो कि वह सती नारी अर्चि किस प्रकार अपने अचिन्त्य पुण्य कर्मों के प्रभाव से अब भी अपने पति का अनुगमन करती हुई ऊपर की ओर, जहाँ तक हम देख सकती हैं, चली जा रही है।

तात्पर्य : महाराज पृथु का विमान तथा महारानी अर्चि को ले जाने वाला विमान, ये दोनों ही स्वर्गलोक की नारियों की दृष्टि से ओझल हो रहे थे। ये नारियाँ आश्चर्यचकित थीं कि किस प्रकार पृथु महाराज तथा उनकी पत्नी को इतना सम्मानित पद प्राप्त हुआ है। यद्यपि वे उच्च लोक के निवासियों की पत्नियाँ थीं और पृथु महाराज निम्न लोक (पृथ्वी) के निवासी थे, किन्तु राजा अपनी पत्नी समेत देवलोक से ऊपर वैकुण्ठलोक को जा रहे थे। ऊर्ध्वम् (ऊपर की ओर) शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो नारियाँ बातें कर रहीं थीं वे, चन्द्रमा, सूर्य से लेकर ब्रह्मलोक या सर्वोच्च लोकों की थीं। ब्रह्मलोक के ऊपर दिव्याकाश है और उस आकाश में असंख्य वैकुण्ठ लोक हैं। अतः ऊर्ध्वम् शब्द सूचित करता है कि वैकुण्ठलोक इन भौतिक लोकों से परे या ऊपर हैं और पृथु तथा उनकी पत्नी अर्चि इन्हीं वैकुण्ठलोकों को जा रहे थे। इससे यह भी सूचित होता है कि पृथु तथा उनकी पत्नी अर्चि अपना-अपना भौतिक शरीर अग्नि में छोड़ते ही तुरन्त आध्यात्मिक शरीर धारण करके दिव्य विमानों में बैठ गये जो भौतिक तत्त्वों को पार कर आध्यात्मिक आकाश में पहुँच सकते थे। वे पृथक्-पृथक् विमानों में आरूढ़ थे, अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चिता में भस्म होने पर भी उनके शरीर पृथक्-पृथक् व्यक्ति रहे। दूसरे शब्दों में, उन्होंने कभी अपनी सत्ता नहीं खोई, अर्थात् शून्य नहीं हुए, जैसाकि निर्विशेषवादी कल्पना करते हैं।

स्वर्ग की नारियाँ ऊपर तथा नीचे दोनों ओर देखने में सक्षम थीं। जब वे नीचे देख रही थीं तो उन्हें पृथु का शरीर भस्म होते और अर्चि को चिता में प्रविष्ट होते देखा और जब वे ऊपर देख रही थीं तो उन्हें दिखा कि वे दोनों अलग-अलग विमानों में किस तरह वैकुण्ठलोक को जा रहे हैं। यह सब दुर्विभाव्येन कर्मणा अर्थात् अचिन्त्य कर्म द्वारा सम्भव है। पृथु महाराज शुद्ध भक्त थे और उनकी पत्नी अर्चि केवल अपने पति का अनुगमन कर रही थीं, फलतः वे दोनों शुद्ध भक्त माने जा सकते हैं जिससे वे अचिन्त्य-कर्म करने में सक्षम थे। ऐसे कर्म सामान्य व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं हैं। सचमुच ही,

सामान्य पुरुषों के लिए भक्ति करना भी सरल नहीं, न ही सामान्य स्त्रियाँ पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह करके सभी प्रकार से अपने पतियों का साथ दे सकती हैं। स्त्री को उच्च योग्यता की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि अपने भक्त पति के चरणचिह्नों पर चलने की है। तभी पति तथा पत्नी दोनों मोक्ष प्राप्त करते हैं और वैकुण्ठलोक को जाते हैं। यह महाराज पृथु तथा उनकी पत्नी के अचिन्त्य कर्मों द्वारा प्रत्यक्ष है।

तेषां दुरापं किं त्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम् ।

भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत ॥ २७ ॥

#### शब्दार्थ

तेषाम्—उनके लिए; दुरापम्—प्राप्त करना कठिन, दुर्लभ; किम्—क्या; तु—लेकिन; अन्यत्—और कुछ; मर्त्यानाम्—मनुष्यों का; भगवत्-पदम्—भगवान् का राज्य; भुवि—संसार में; लोल—क्षणिक; आयुषः—जीवन अवधि; ये—वे; वै—निश्चय ही; नैष्कर्म्यम्—मोक्ष का मार्ग; साधयन्ति—पालन करते हैं; उत—सही सही।

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य का जीवन-काल लघु है, किन्तु जो भक्ति में अनुरक्त हैं, वे भगवान् के धाम वापस जाते हैं, क्योंकि वे सचमुच मोक्ष के मार्ग पर होते हैं। ऐसे लोगों के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (९.३३) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्*। यह संसार दुखों (*असुखम्*) से पूर्ण है और साथ ही अनित्य है, अतः मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह अपने आपको भक्ति में लगाए। मानव जीवन का यही सर्वोत्तम अन्त है। जो भक्त भगवान् के चरणकमलों की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं उन्हें न केवल समस्त भौतिक लाभ प्राप्त होते हैं, वरन् समस्त आत्मिक लाभ भी मिलते हैं, क्योंकि जीवन के अन्त समय में वे भगवान् के धाम वापस जाते हैं। उनके गन्तव्य को इस श्लोक में *भगवत्-पदम्* कहा गया है। *पदम्* शब्द का अर्थ है “धाम” है तथा *भगवत्* का अर्थ “भगवान् का।” इस प्रकार भक्तों का गन्तव्य भगवान् का धाम है।

इस श्लोक में *नैष्कर्म्यम्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है “दिव्य ज्ञान।” जब तक मनुष्य दिव्य ज्ञान को प्राप्त करके भगवान् की भक्ति नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं होता। सामान्यतः ज्ञान, योग तथा कर्म विधियों को जन्म-जन्मांतर करते रहने पर मनुष्य को भगवान् की शुद्ध भक्ति करने का अवसर प्राप्त होता है। यह अवसर शुद्ध भक्त की कृपा से ही मिलता है और इसी विधि से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इस कथा के प्रसंग में देवताओं की पत्नियों को पश्चात्ताप हो रहा था क्योंकि



यद्यपि उनका जन्म स्वर्ग में हुआ, उनकी आयु लाखों वर्ष की थी और उन्हें सारी सुविधाएँ प्राप्त थी, किन्तु वे पृथु महाराज तथा उनकी पत्नी के समान भाग्यशालिनी नहीं थी, क्योंकि वे उनसे भी ऊपर जा रहे थे। दूसरे शब्दों में, पृथु महाराज तथा उनकी पत्नी को स्वर्ग तथा यहाँ तक कि ब्रह्मलोक जाने की भी इच्छा नहीं थी, क्योंकि वे जिस पद को प्राप्त कर रहे थे वह अतुलनीय थी। *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् पुष्टि करते हैं— *आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—“इस ससार में उच्चतम लोक से लेकर निम्नतम लोक तक सभी दुख के स्थान हैं जहाँ जन्म-मृत्यु का चक्कर लगा रहता है।” दूसरे शब्दों में, यदि कोई उच्चतमलोक, ब्रह्मलोक, को भी जाता है, तो उसे पुनः जन्म तथा मृत्यु के कष्टों में लौटना पड़ता है। *भगवद्गीता* (९.२१) में भगवान् कृष्ण बलपूर्वक कहते हैं—

*ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं*

*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।*

“इस प्रकार जब वे स्वर्ग का इन्द्रिय-सुख भोग लेते हैं, तो वे इस मर्त्यलोक में पुनः वापस आ जाते हैं।” इस प्रकार पुण्यों के चुक जाने पर मनुष्य को पुनः अधःलोकों में आना पड़ता है और फिर से पुण्यकर्म शुरू करने होते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (१.५.१२) में कहा गया है— *नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्*—“जब तक भगवद्भक्ति प्राप्त न हो जाए मुक्ति का मार्ग तनिक भी सुरक्षित (बाधाहीन) नहीं होता।” यदि कोई निर्गुण ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर भी ले तो भी इस भौतिक संसार में उसके आ गिरने की सम्भावना बनी ही रहती है। यदि ब्रह्मज्योति से नीचे गिरना सम्भव है, तो फिर सामान्य योगियों तथा कर्मियों का क्या कहना जो केवल उच्चतर भौतिक लोकों तक ही उठ पाते हैं? इस तरह उच्चतर लोकों के वासियों की पत्नियों ने कर्म, ज्ञान तथा योग के फल को अधिक नहीं सराहा।

स वञ्चितो बतात्मधुक्कृच्छ्रेण महता भुवि ।

लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥ २८ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह; वञ्चितः—ठगा गया; बत—निश्चय ही; आत्म-धुक्—अपने से ईर्ष्या करने वाला; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; महता—महान् कार्यो से; भुवि—इस संसार में; लब्ध्वा—पाकर; आपवर्ग्यम्—मोक्ष का मार्ग; मानुष्यम्—मनुष्य के शरीर में; विषयेषु—इन्द्रियतृप्ति के कार्य में, वासनाओं में; विषज्जते—लगा रहता है।

जो मनुष्य इस संसार में अत्यन्त संघर्षमय कार्यों को सम्पन्न करने में लगा रहता है, और जो

मनुष्य का शरीर पाकर—जो कि दुखों से मोक्ष प्राप्त करने का एक अवसर होता है—कठिन सकाम कार्यों को करता रहता है, तो उसे ठगा गया तथा अपने ही प्रति ईर्ष्यालु समझना चाहिए।

**तात्पर्य :** इस संसार में लोग विभिन्न कार्यों में इसलिए लगे रहते हैं कि इन्द्रियतृप्ति में उन्हें थोड़ी सफलता प्राप्त हो ले। कर्मी जन अत्यधिक कठिन कर्मों को करने में व्यस्त रहते हैं और इसलिए वे बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ खोलते हैं, विशाल नगरों का निर्माण कराते हैं, बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक खोजें करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे उच्चतर लोकों को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त महँगा त्याग करने में लगे रहते हैं। इसी प्रकार योगी ऐसे ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग की कठिन साधना करते हैं। ज्ञानी लोग भौतिक प्रकृति के फंदे से छूटने के लिए चिन्तन में मग्न रहते हैं। इस प्रकार हर व्यक्ति इन्द्रियों की तृप्ति के लिए कठिन से कठिन कार्य में संलग्न रहता है। किन्तु वे सभी इन्द्रिय तृप्ति में संलग्न माने जाते हैं, क्योंकि वे भौतिक अस्तित्व के लिए कोई न कोई सुविधा चाहते हैं। वास्तव में ऐसे कार्यों का फल क्षणिक होता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* (७.२३) में घोषणा की है—*अन्तवतु फलं तेषाम्*—“(जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं उनके) फल सीमित तथा क्षणिक हैं।” इस तरह योगियों, कर्मियों तथा ज्ञानियों के कर्मों के फल क्षणिक हैं। यही नहीं, कृष्ण कहते हैं—*तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—“वे केवल अल्प बुद्धि वाले मनुष्यों के लिए हैं।” *विषय* शब्द इन्द्रियतृप्ति का सूचक है। कर्मी सीधे कहते हैं कि उन्हें इन्द्रियतृप्ति चाहिए। योगियों को भी इन्द्रियतृप्ति चाहिए, किन्तु किंचित उच्चकोटि की। वे योगाभ्यास के द्वारा कुछ आश्चर्यचकित करने वाले करतब दिखाना चाहते हैं। इस प्रकार वे छोटे से छोटा या बड़े से बड़ा बनने में सफल होने का प्रयास करते हैं अथवा पृथ्वी जैसे लोक की सृष्टि कर दिखाना चाहते हैं या विज्ञानी बनकर अनेकानेक आश्चर्यजनक यंत्रों का आविष्कार करना चाहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी भी इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे परमेश्वर से तादात्म्य चाहते रहते हैं। इस प्रकार इन सारे कर्मों का मुख्य उद्देश्य कम या अधिक मात्रा में इन्द्रियतृप्ति रहता है। किन्तु भक्तजन इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में व्यस्त नहीं होते। वे तो भगवान् की सेवा का अवसर प्राप्त करके संतुष्ट हो लेते हैं। यद्यपि वे सभी अवस्थाओं में सन्तुष्ट रहते हैं, तो भी उनके लिए ऐसा कुछ भी नहीं जिसे वे प्राप्त न कर सकते हों, क्योंकि वे भगवान् की शुद्ध भक्ति में लगे रहते हैं।

देवताओं की पत्नियाँ इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने वालों को *वञ्चित* कहकर भर्त्सना करती हैं।

जो इस प्रकार कर्म में लगे हैं, वे निस्सन्देह *आत्महा* अर्थात् अपनी हत्या आप करने वाले हैं।  
*श्रीमद्भागवत* (११.२०.१७) में कहा गया है—

*नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।*

*मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥*

जब मनुष्य को कोई विशाल सागर पार करना होता है, तो उसे एक सुदृढ़ नाव की आवश्यकता होती है। कहा जाता है कि अज्ञान रूपी सागर को पार करने के लिए मानव शरीर एक उत्तम नाव स्वरूप है। मनुष्य जीवन में गुरु अच्छे नाविक का काम करता है। श्रीकृष्ण की कृपा से अनुकूल हवाएँ भी मिल जाती हैं, जो श्रीकृष्ण के उपदेश तुल्य हैं। मनुष्य शरीर नाव है, श्रीकृष्ण के आदेश अनुकूल हवाएँ हैं और गुरु नाविक है। गुरु जानता है कि पाल को कैसे साधा जाये कि हवा अनुकूल रहे और गन्तव्य तक नाव खे ले जाई जाये। किन्तु यदि इस अवसर का लाभ नहीं उठाया गया तो यह मनुष्य-जीवन वृथा नष्ट हो जाता है। समय तथा जीवन को नष्ट करना आत्म-घात जैसा है।

इस श्लोक में *लब्ध्वापवर्ग्यम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि श्री जीव गोस्वामी के अनुसार *आपवर्ग्यम्* अथवा मोक्ष का पथ निर्गुण ब्रह्म में लीन होना नहीं, अपितु सालोक्यादि सिद्धि है, जिसका अर्थ है उस लोक को प्राप्त करना जिसमें भगवान् निवास करते हैं। मोक्ष पाँच प्रकार के हैं जिनमें से सायुज्य मुक्ति भी एक है, जिसका अर्थ है परमेश्वर में या निर्गुण ब्रह्म के तेज में लीन होना। चूँकि ब्रह्मतेज से भौतिक आकाश में गिरने की आशंका बनी रहती है, इसलिए श्रील जीव गोस्वामी उपदेश देते हैं कि इस मानव जन्म में मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य भगवान् के धाम वापस जाना होना चाहिए। *स वञ्चितः* शब्द सूचित करते हैं कि एक बार मनुष्य जीवन प्राप्त कर लेने पर यदि वह भगवान् के धाम वापस जाने की तैयारी नहीं करता तो सचमुच ही वह ठगा जाता है। समस्त अभक्त भगवान् के धाम वापस जाने में रुचि न रखने के कारण शोच्य हैं, क्योंकि मनुष्य-जीवन भक्ति करने के लिए मिला है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं।

मैत्रेय उवाच

स्तुवतीष्वमरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः ।

यं वा आत्मविदां धुर्यो वैन्यः प्रापाच्युताश्रयः ॥ २९ ॥

## शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; स्तुवतीषु—स्तुति कर रही; अमर-स्त्रीषु—देवताओं की पत्नियों द्वारा; पति-लोकम्—जिस लोक में पति गया था; गता—पहुँचकर; वधूः—पत्नी; यम्—जहाँ; वा—अथवा; आत्म-विदाम्—स्वरूपसिद्ध पुरुषों का; धुर्यः—सर्वोच्च; वैन्यः—वेन का पुत्र ( पृथु महाराज ); प्राप—प्राप्त किया; अच्युत-आश्रयः—भगवान् का आश्रय।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, जब देवताओं की पत्नियाँ इस प्रकार परस्पर बातें कर रही थीं तो अर्चि ने उस लोक को प्राप्त कर लिया था जहाँ उनके पति सर्वोत्कृष्ट स्वरूपसिद्ध महाराज पृथु पहुँच चुके थे।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रों के अनुसार जो स्त्री अपने पति के साथ मरती है या अपने पति की जलती चिता में भस्म हो जाती है, वह अपने पति के लोक को जाती है। इस संसार में पितृलोक के ही समान पतिलोक भी है। किन्तु इस श्लोक में पतिलोक इस भौतिक ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक का सूचक नहीं है, क्योंकि सर्वोच्च स्वरूपसिद्ध व्यक्ति होने के कारण पृथु महाराज अवश्य ही भगवान् के धाम वापस गये होंगे और उन्होंने वैकुण्ठ लोक को प्राप्त किया होगा। महारानी अर्चि भी पतिलोक गई, किन्तु यह लोक इस भौतिक ब्रह्माण्ड में नहीं है, क्योंकि वे वास्तव में अपने पति के लोक में गईं। इस भौतिक संसार में भी जब कोई स्त्री अपने पति के साथ मरती है, तो वह अगले जन्म में अपने पति से पुनः मिल जाती है। इस प्रकार महाराज पृथु तथा महारानी अर्चि वैकुण्ठ लोक में जाकर मिले। वैकुण्ठलोक में पति तथा पत्नियाँ रहते अवश्य हैं, किन्तु न तो वहाँ विषय-भोग सम्भव है, न ही सन्तानें उत्पन्न करना। वहाँ के पति-पत्नी परम सुन्दर होते हैं, एक दूसरे से आकर्षित होते हैं, किन्तु विषयी जीवन नहीं बिताते। चूँकि पति-पत्नी श्रीकृष्ण की भक्ति तथा भगवान् की महिमा के गायन तथा कीर्तन में निरन्तर लगे रहते हैं, अतः वे संभोग को आनन्ददायक नहीं मानते।

भक्तिविनोद ठाकुर का भी कहना है कि इस संसार में रहते हुए पति तथा पत्नी अपने घर को वैकुण्ठ बना सकते हैं। इस संसार में श्रीकृष्ण की भक्ति में रत रह कर तथा अपने घर में भगवान् की मूर्ति स्थापित करके और शास्त्रों के अनुसार मूर्ति की सेवा करके पति तथा पत्नी वैकुण्ठलोक का-सा जीवन बिता सकते हैं। इससे उनके मन में संभोग का विचार उत्पन्न नहीं होता। भक्ति में उन्नति की यही परीक्षा है। जो भक्ति में उन्नत है, वह कभी भी विषयी जीवन के प्रति आकृष्ट नहीं होता और ज्योंही वह विषयी जीवन से विरक्त होकर अपेक्षतया भगवान् की भक्ति में आसक्त रहता है, वह अपने को वैकुण्ठलोक में निवास करता अनुभव करता है। वास्तव में भौतिक जगत नाम का कोई जगत नहीं है,

किन्तु जब मनुष्य भगवान् की सेवा भूलकर अपनी इन्द्रियों की सेवा में तल्लीन रहता है, तो यह कहा जाता है कि वह भौतिक जगत में रह रहा है।

इत्थम्भूतानुभावोऽसौ पृथुः स भगवत्तमः ।  
कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य ते ॥ ३० ॥

#### शब्दार्थ

इत्थम्-भूत—इस प्रकार; अनुभावः—अत्यन्त महान्, शक्तिमान्; असौ—उस; पृथुः—राजा पृथु; सः—वह; भगवत्-तमः—स्वामियों में श्रेष्ठ; कीर्तितम्—वर्णित; तस्य—उसका; चरितम्—चरित्र; उद्दाम—अत्यन्त महान्; चरितस्य—ऐसे गुणों से युक्त; ते—तुमसे।

मैत्रेय ने आगे कहा : भक्तों में महान् महाराज पृथु अत्यन्त शक्तिशाली थे और उनका चरित्र अत्यन्त उदार तथा उद्दाम था। मैंने यथासम्भव तुमसे उसका वर्णन किया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवत्तमः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवत् शब्द विशेषतया भगवान् के लिए प्रयुक्त होता है और भगवान् शब्द इसीसे निकला है। किन्तु कभी-कभी हम देखते हैं कि भगवान् शब्द ब्रह्मा, शिव तथा नारद जैसे महापुरुषों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यही बात पृथु महाराज के साथ भी है, जिन्हें यहाँ पर भगवानों में श्रेष्ठ कहा गया है। किसी भी मनुष्य को इस प्रकार तभी सम्बोधित किया जा सकता है जब उसमें अद्वितीय तथा असामान्य गुण हों, अथवा जिसने अन्तर्धान होने पर उच्चतम लक्ष्य प्राप्त किया हो, अथवा जो ज्ञान तथा अज्ञान में अन्तर जानता हो। दूसरे शब्दों में, भगवान् शब्द का प्रयोग सामान्य पुरुषों के लिए नहीं किया जाना चाहिए।

य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयावहितः पठेत् ।  
श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात् ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

यः—जो; इदम्—इस; सु-महत्—अत्यन्त महान्; पुण्यम्—पवित्र; श्रद्धया—श्रद्धा-समेत; अवहितः—ध्यानपूर्वक; पठेत्—पढ़ता है; श्रावयेत्—व्याख्या करता है; शृणुयात्—सुनता है; वा—अथवा; अपि—निश्चय ही; सः—वह व्यक्ति; पृथोः—राजा पृथु के; पदवीम्—पद को; इयात्—प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति श्रद्धा तथा ध्यानपूर्वक राजा पृथु के महान् गुणों को पढ़ता है, या स्वयं सुनता है अथवा अन्यों को सुनाता है, वह अवश्य ही महाराज पृथु के लोक को प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा व्यक्ति भी वैकुण्ठलोक अर्थात् भगवान् के धाम को वापस जाता है।

तात्पर्य : भक्ति करते समय श्रवणं कीर्तनं विष्णोः पर विशेष बल दिया जाता है। इसका अर्थ है

कि विष्णु के विषय में श्रवण तथा कीर्तन से भक्ति प्रारम्भ होती है। जब हम विष्णु का नाम लेते हैं, तो उसका अर्थ “विष्णु से सम्बन्धित बातें” भी होता है। *शिवपुराण* में शिवजी ने विष्णु पूजा को सर्वोच्च बताया है, किन्तु इससे भी श्रेष्ठ है वैष्णवों या विष्णु से सम्बन्धित किसी भी वस्तु की पूजा। यहाँ यह तथ्य बताया गया है कि वैष्णव के सम्बन्ध में श्रवण तथा कीर्तन विष्णु के श्रवण-कीर्तन के समान है, क्योंकि मैत्रेय ने बताया है, जो कोई ध्यानपूर्वक पृथु महाराज के विषय में सुनता है उसे भी महाराज पृथु को मिलनेवाला लोक प्राप्त होता है। विष्णु तथा वैष्णव में कोई द्वैतभाव नहीं है। इसे *अद्वयज्ञान* कहते हैं। एक वैष्णव विष्णु के ही समान महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने *गुरु-अष्टक* ग्रन्थ में लिखा है—

*साक्षाद्भरित्वेन समस्तशास्त्रै-*

*रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः ।*

*किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य*

*वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ॥*

“गुरु का सम्मान परमेश्वर के ही समान किया जाता है, क्योंकि वह भगवान् का परम विश्वसनीय सेवक होता है। इसे सभी शास्त्रों ने स्वीकार किया गया है और सभी विद्वानों ने इसका पालन किया है, अतः मैं श्रीहरि के प्रामाणिक प्रतिनिधि, अपने गुरु के चरणकमलों को नमस्कार करता हूँ।”

परम वैष्णव गुरु होता है और भगवान् से अभिन्न। कहा जाता है कि कभी-कभी भगवान् चैतन्य महाप्रभु गोपियों के नाम का जप करते थे। जब उनके कुछ शिष्य उनसे इस के बजाय श्रीकृष्ण का नाम लेने को कहते तो वे शिष्यों पर अत्यन्त रूष्ट हो जाते थे। इस घटना को लेकर इतना वितण्डा हो गया कि चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया क्योंकि गृहस्थ आश्रय में उन्हें गम्भीरता पूर्वक नहीं लिया जाता था। चूँकि श्री चैतन्य महाप्रभु गोपियों के नाम का जप करते थे, अतः गोपियों या भगवान् के भक्तों की पूजा भगवान् की भक्ति के ही समान है। भगवान् ने स्वयं भी कहा है कि मेरे भक्तों की भक्ति करना मेरी प्रत्यक्ष भक्ति से श्रेष्ठ है। कभी-कभी *सहजिया* भक्त अन्य भक्तों के कार्य-कलापों को छोड़कर केवल श्रीकृष्ण की व्यक्तिगत लीलाओं में ही रुचि रखते हैं। ऐसा भक्त उच्चस्तरीय नहीं होता। जो भक्त तथा भगवान् को समान स्तर (पद) पर देखता है, वही आगे उन्नति करता है।

ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः ।

वैश्यः पठन्विट्पतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियात् ॥ ३२ ॥

#### शब्दार्थ

ब्राह्मणः—ब्राह्मण; ब्रह्म-वर्चस्वी—आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त हुआ; राजन्यः—राजसी; जगती-पतिः—संसार का राजा; वैश्यः—वैश्य वर्ण; पठन्—पढ़ने से; विट्-पतिः—पशुओं का स्वामी; स्यात्—हो जाता है; शूद्रः—श्रमिक वर्ग; सत्तम-ताम्—महाभक्त का पद; इयात्—प्राप्त करता है।

यदि कोई पृथु महाराज के गुणों को सुनता है और यदि वह ब्राह्मण है, तो वह ब्रह्मशक्ति में निपुण हो जाता है; यदि वह क्षत्रिय है, तो संसार का राजा बन जाता है; यदि वह वैश्य है, तो अन्य वैश्यों तथा अनेक पशुओं का स्वामी हो जाता है और यदि शूद्र हुआ तो वह उच्चकोटि का भक्त बन जाता है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत में संस्तुति की गई है कि अपनी स्थिति का, ध्यान न करते हुए मनुष्य को भक्त बनना चाहिए। चाहे मनुष्य अकाम हो, या सकाम हो अथवा मोक्षकाम हो, उसे भगवान् की पूजा और उनकी भक्ति करनी चाहिए। ऐसा करने से जीवन के किसी भी क्षेत्र में उसे विजय प्राप्त होती है। भक्तियोग—विशेष रूप से श्रवण तथा कीर्तन—इतना शक्तिशाली है कि इससे मनुष्य सिद्ध हो सकता है। इस श्लोक में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों का उल्लेख है, किन्तु यह समझना आवश्यक है कि यहाँ इन चारों का उल्लेख उन कुलों में ही उत्पन्न लोगों से है। चाहे कोई ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र, मात्र श्रवण तथा कीर्तन से उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

ब्राह्मण कुल में जन्म लेना अन्तिम रूप से ध्येय नहीं है, उसमें ब्राह्मण की शक्ति होनी चाहिए जिसे ब्रह्मतेज कहते हैं। इसी प्रकार राज परिवार में जन्म लेना पर्याप्त नहीं, उसमें संसार में शासन करने की शक्ति होनी चाहिए। इसी प्रकार वैश्य के रूप में जन्म लेना पर्याप्त नहीं; उसके पास हजारों पशु (गाएँ) होने चाहिए और उसे अन्य वैश्यों के ऊपर शासन करने योग्य होना चाहिए जैसे कि वृन्दावन में नन्द महाराज ने किया। नन्द महाराज वैश्य थे जिनके पास नौ लाख गाएँ थीं और वे अनेक गोपों तथा ग्वाल-बालों के ऊपर शासन करते थे। शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति भक्ति करने तथा भगवान् एवं भक्तों की लीलाओं के श्रवण मात्र से ही ब्राह्मणों से भी बड़ा बन सकता है।

त्रिः कृत्व इदमाकर्ण्य नरो नार्यथवाहता ।

अप्रजः सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

त्रिः—तीन बार; कृत्वः—उच्चारण करके; इदम्—यह; आकर्ण्य—सुनकर; नरः—मनुष्य; नारी—स्त्री; अथवा—या; आहता—समादरित; अप्रजः—सन्तान-हीन; सु-प्रज-तमः—अनेक सन्तानों वाला; निर्धनः—गरीब; धन-वत्—धनी; तमः—सर्वाधिक ।

चाहे नर हो या नारी, जो कोई भी महाराज पृथु के इस वृत्तान्त को अत्यन्त आदरपूर्वक सुनता है, वह यदि निःसन्तान है, तो सन्तान युक्त और यदि निर्धन है, तो वह धनवान बन जाता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी व्यक्ति, जिन्हें धन तथा परिवार अत्यन्त प्रिय हैं, विशेष रूप से देवी दुर्गा, शिवजी तथा ब्रह्मा जैसे विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं जिससे उनके मनोरथ पूरे हों। ऐसे व्यक्ति श्रियैश्वर्य-प्रजेप्सवः कहलाते हैं। श्री का अर्थ है “सौन्दर्य,” ऐश्वर्य का अर्थ है “धन,” प्रजा का अर्थ है “सन्तानें” तथा ईप्सव का अर्थ है “इच्छुक।” जैसाकि श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध में कहा गया है, विभिन्न प्रकार के वरदानों के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करनी होती है। किन्तु यहाँ यह कहा गया है कि पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के विषय में सुनने मात्र से विपुल धन तथा सन्तान दोनों की प्राप्ति होती है। मनुष्य को पृथु महाराज के इतिहास, जीवन तथा कार्यों को केवल पढ़ना और समझना होता है। यहाँ इस बात की सलाह दी जाती है कि मनुष्य उन्हें कम से कम तीन बार पढ़े जो दीन हैं, वे भगवान् तथा उनके भक्तों के विषय में सुनने से इतना लाभ प्राप्त करेंगे कि उन्हें अन्य देवताओं के पास जाने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। इस श्लोक का सुप्रजतमः (अनेक बच्चों से घिरा हुआ) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सम्भव है कि किसी के अनेक सन्तानें हों, किन्तु उनमें से एक भी योग्य न निकले। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि इस प्रकार से प्राप्त सारी सन्तानें योग्य रूप से शिक्षित, धनी, सुन्दर तथा बलशाली होंगी ( सुप्रजतमः ) ।

अस्पृष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः ।

इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममङ्गल्यनिवारणम् ॥ ३४ ॥

### शब्दार्थ

अस्पृष्ट-कीर्तिः—जिसका यश प्रकट न हो; सु-यशाः—अत्यन्त प्रसिद्ध; मूर्खः—निरक्षर; भवति—हो जाता है; पण्डितः—विद्वान्; इदम्—यह; स्वस्ति-अयनम्—कल्याण; पुंसाम्—मनुष्यों का; अमङ्गल्य—अशुभ; निवारणम्—दूर करने वाला ।

जो इस वृत्तान्त को तीन बार सुनता है, वह यदि समाज में सम्मानित नहीं है, तो अत्यन्त



विख्यात हो जाएगा और यदि निरक्षर है, तो परम विद्वान् बन जाएगा। दूसरे शब्दों में, पृथु महाराज का वृत्तान्त सुनने में इतना शुभ है कि वह समस्त दुर्भाग्य को दूर भगाता है।

**तात्पर्य :** इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ लाभ, सम्मान तथा ख्याति चाहता है। विभिन्न अवस्थाओं में भगवान् या उनके भक्त की संगति में रहने के कारण मनुष्य सब प्रकार से बहुत सरलता से ऐश्वर्यवान् हो सकता है। भक्ति करने तथा उपदेश देने से मनुष्य प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण बन सकता है, भले ही समाज में उसका मान न हो। जहां तक शिक्षा का प्रश्न है, केवल *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* को सुनकर वह समाज में महान् पंडित माना जा सकता है, क्योंकि इन ग्रन्थों में भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाओं का वर्णन है। यह संसार पग-पग पर विपत्तियों से भरा हुआ है, किन्तु भक्त को डर नहीं रह जाता, क्योंकि भक्ति इतनी कल्याणकारी है कि यह समस्त दुर्भाग्य का प्रतिकार स्वतः कर देती है। चूँकि पृथु महाराज के विषय में सुनना ( *श्रवणम्* ) भक्ति के कार्यों में से एक है, अतः स्वाभाविक है कि उसके सुनने से सौभाग्य प्राप्त होता है।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम्  
धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक्सिद्धिमभीप्सुभिः ।  
श्रद्धयैतदनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम् ॥ ३५ ॥

#### शब्दार्थ

धन्यम्—धन का साधन; यशस्यम्—यश का स्रोत; आयुष्यम्—दीर्घ जीवन का स्रोत; स्वर्ग्यम्—स्वर्ग जाने का साधन; कलि—कलियुग में; मल-अपहम्—कल्मष को घटाने वाला; धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इन्द्रियतृप्ति; मोक्षाणाम्—मोक्ष का; सम्यक्—पूर्णतया; सिद्धिम्—सिद्धि; अभीप्सुभिः—इच्छुकों के द्वारा; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धा से; एतत्—यह चरित्र; अनुश्राव्यम्—सुना जाना चाहिए; चतुर्णाम्—चारों; कारणम्—कारणों का; परम्—चरम।

पृथु महाराज के चरित्र को सुनकर मनुष्य महान् बन सकता है, अपनी जीवन-अवधि ( आयु ) बढ़ा सकता है, स्वर्ग को जा सकता है और इस कलिकाल के कल्मषों का नाश कर सकता है। साथ ही वह धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के हितों में उन्नति ला सकता है। अतः सभी प्रकार से यही अच्छा है कि जो लोग ऐसी वस्तुओं में रुचि रखते हैं, वे पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के विषय में पढ़ें तथा सुनें।

**तात्पर्य :** कोई भी पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के वृत्तान्तों को पढ़कर तथा सुन कर स्वाभाविक तौर पर भक्त बन जाता है और ज्योंही वह भक्त बन जाता है उसकी सारी भौतिक इच्छाएँ

पूरी हो जाती हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवत ( २.३.१० ) में संस्तुति की गई है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

यदि मनुष्य भगवान् के धाम वापस जाना चाहता है या शुद्ध ( अकाम ) भक्त बनना चाहता है, या कुछ भौतिक सम्पत्ति चाहता है ( सकाम या सर्वकाम ) या फिर परब्रह्म के तेज में लीन होना चाहता है ( मोक्षकाम ) तो उसे भक्तियोग साधने तथा भगवान् विष्णु या उनके भक्त के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने की सलाह दी जाती है। वैदिक साहित्य का यही निचोड़ है। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ( भगवद्गीता १५.१५ )। वैदिकज्ञान का उद्देश्य श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों को समझना है। जब भी हम श्रीकृष्ण के विषय में कुछ कहते हैं, हम उनके भक्तों की भी बात करते हैं, क्योंकि वे अकेले नहीं हैं। वे कभी भी निर्विशेष या शून्य नहीं हैं। कृष्ण विशेष से पूर्ण ( सविशेष ) हैं और ज्योंही कृष्ण उपस्थित हो जाते हैं, तो शून्य के लिए स्थान ही नहीं रह पाता।

विजयाभिमुखो राजा श्रुत्वैतदभियाति यान् ।

बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे राजानः पृथवे यथा ॥ ३६ ॥

#### शब्दार्थ

विजय-अभिमुखः—जो विजय के लिए प्रस्थान करने वाला होता है; राजा—राजा; श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—यह; अभियाति—प्रस्थान करता है; यान्—रथ पर; बलिम्—कर या भेंट; तस्मै—उसको; हरन्ति—भेंट करते हैं; अग्रे—समक्ष; राजानः—अन्य राजा; पृथवे—राजा पृथु को; यथा—जिस तरह करते थे।

यदि विजय तथा शासन-शक्ति का इच्छुक कोई राजा अपने रथ पर चढ़कर प्रस्थान करने के पूर्व पृथु महाराज के चरित्र का तीन बार जप करता है, तो उसके अधीन सारे राजा उसके आदेश से ही सारा कर उसी प्रकार लाकर रखते हैं जिस प्रकार महाराज पृथु के अधीन राजा उनको दिया करते थे।

तात्पर्य : चूँकि क्षत्रिय राजा संसार पर शासन करना चाहता है, अतः वह अन्य समस्त राजाओं को अपने अधीन करना चाहता है। ऐसी ही स्थिति तब भी थी जब पृथु महाराज पृथ्वी पर शासन कर रहे थे। उस समय इस लोक के वे एकमात्र सम्राट थे। यहाँ तक कि पाँच हजार वर्ष पूर्व महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित इस लोक के एकछत्र सम्राट थे। चूँकि कभी-कभी अधीनस्थ राजा विद्रोह किया करते थे, अतः सम्राट के लिए अनिवार्य हो जाता था कि वह जाकर उन्हें दण्ड दे। पृथु महाराज के

जीवन तथा चरित्र के वृत्तान्तों के जप की यह विधि संस्तुत की जाती है, जिससे संसार में राज्य करने के अभिलाषी राजा अन्य राजाओं पर विजय पा सकें।

मुक्तान्यसङ्गो भगवत्यमलां भक्तिमुद्धहन् ।  
वैन्यस्य चरितं पुण्यं शृणुयाच्छ्रावयेत्पठेत् ॥ ३७ ॥

**शब्दार्थ**

मुक्त-अन्य-सङ्गः—समस्त भौतिक कल्मष से रहित होकर; भगवति—भगवान् के प्रति; अमलाम्—विशुद्ध; भक्तिम्—भक्ति; उद्धहन्—करते हुए; वैन्यस्य—महाराज वेन के पुत्र का; चरितम्—चरित्र; पुण्यम्—पवित्र; शृणुयात्—सुने; श्रावयेत्—सुनाए; पठेत्—तथा पढ़े।

शुद्ध भक्त भक्तियोग की विविध विधियों का पालन करते हुए कृष्ण-चेतना में पूर्णतया लीन होने के कारण दिव्य पद पर स्थित हो सकता है, किन्तु तो भी भक्ति करते समय उसे पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के विषय में सुनना, दूसरों को सुनने की प्रेरणा देना तथा पढ़ना चाहिए।

तात्पर्य : नवदीक्षित भक्त भगवान् की लीलाओं को, विशेष रूप से श्रीमद्भागवत में वर्णित रास-लीला के विषय में सुनने का अत्यन्त इच्छुक रहता है। ऐसे भक्त को समझ लेना चाहिए कि पृथु महाराज की लीलाएँ भी भगवान् की लीलाओं से अभिन्न हैं। पृथु महाराज ने आदर्श राजा के रूप में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया कि प्रजा पर किस प्रकार शासन करना चाहिए, किस प्रकार उसे शिक्षित करना चाहिए, किस प्रकार राज्य का आर्थिक विकास करना चाहिए, किस प्रकार शत्रुओं से लड़ना चाहिए, किस प्रकार यज्ञ करने चाहिए...आदि आदि...। इस प्रकार “सहजिया” या नवदीक्षित भक्त को सलाह दी जाती है कि वह भले ही अपने को उच्च भक्ति की दिव्य स्थिति पर समझे तो भी वह पृथु महाराज के कार्यकलापों के सम्बन्ध में अवश्य सुने, जपे तथा अन्यो को सुनाए।

वैचित्रवीर्याभिहितं महन्माहात्म्यसूचकम् ।  
अस्मिन्कृतमतिमर्त्यं पार्थवीं गतिमाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

**शब्दार्थ**

वैचित्रवीर्यं—हे विचित्रवीर्य के पुत्र ( विदुर ); अभिहितम्—कहा गया; महत्—महान्; माहात्म्य—महानता; सूचकम्—उद्घुष्ट करने वाला; अस्मिन्—इसमें; कृतम्—किया हुआ; अति-मर्त्यम्—असामान्य; पार्थवीम्—पृथु महाराज के सम्बन्ध में; गतिम्—उन्नति, लक्ष्य; आप्नुयात्—प्राप्त करना चाहिए।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : हे विदुर, मैंने यथासम्भव पृथु महाराज के चरित्र के विषय में

बतलाया है, जो मनुष्य के भक्तिभाव को बढ़ाने वाला है। जो कोई भी इसका लाभ उठाता है, वह भी महाराज पृथु की तरह ही भगवान् के धाम को वापस जाता है।

**तात्पर्य :** पिछले श्लोक में आया हुआ *श्रावयेत्* शब्द इंगित करता है कि मनुष्य को न केवल स्वयं पढ़ना चाहिए वरन् अन्यो को भी पढ़ने तथा सुनने के लिए प्रेरित करना चाहिए। यह उपदेश देना कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने इस अभ्यास की संस्तुति की है— *यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश* ( *चैतन्य-चरितामृत*, मध्य ७.१२८) “जिससे भी मिलो उससे कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेशों के विषय में बातें करो या उसे कृष्ण के वृत्तान्त सुनाओ।” पृथु महाराज की भक्ति का इतिहास भगवान् की लीलाओं के वृत्तान्त के समान ही शक्तिदायक है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की लीलाओं तथा पृथु महाराज के कार्यकलापों में अन्तर न माने और जब भी अवसर मिले पृथु महाराज के विषय में सुनने के लिए अन्यो को प्रेरित करे। केवल अपने हित के लिए उनकी लीलाओं को नहीं पढ़े, अपितु अन्यो को भी उनके विषय में पढ़ने तथा सुनने के लिए प्रेरित करे। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है।

अनुदिनमिदमादरेण शृण्वन्

पृथुचरितं प्रथयन्विमुक्तसङ्गः ।

भगवति भवसिन्धुपोतपादे

स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः ॥ ३९ ॥

**शब्दार्थ**

अनु-दिनम्—प्रतिदिन; इदम्—यह; आदरेण—आदरपूर्वक; शृण्वन्—सुनते हुए; पृथु-चरितम्—पृथु महाराज के वृत्तान्त को; प्रथयन्—कीर्तन करते हुए; विमुक्त—मुक्त; सङ्गः—साथ; भगवति—भगवान् के प्रति; भव-सिन्धु—अज्ञानरूपी सागर; पोत—नाव; पादे—जिनके चरणकमल; सः—वह; च—भी; निपुणाम्—पूर्ण; लभते—प्राप्त करता है; रतिम्—आसक्ति, अनुराग; मनुष्यः—मनुष्य।

जो भी महाराज पृथु के कार्यकलापों के वृत्तान्त को नियमित रूप से अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पढ़ता, कीर्तन करता तथा वर्णन करता है, उसका अविचल विश्वास तथा अनुराग निश्चय ही भगवान् के चरणकमलों के प्रति नित्यप्रति बढ़ता जाता है। भगवान् के चरणकमल वह नौका है, जिसके द्वारा मनुष्य अज्ञान के सागर को पार करता है।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में *भवसिन्धुपोतपादे* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् के चरणकमल *महत्पदम्* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि सारा भौतिक जगत भगवान् के चरणकमलों पर निर्भर करता है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा गया है—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मुझसे ही सब कुछ उद्भूत है। यह दृश्य जगत भी, जिसकी तुलना अज्ञान सागर से की गई है, भगवान् के चरणकमलों पर आश्रित है। फलतः शुद्ध भक्त के लिए यह अज्ञानरूपी महासागर भी घट जाता है। जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है उसे इस समुद्र को पार करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसने पहले से ही भगवान् के चरणकमलों में स्थित होने के कारण उसे पार कर लिया होता है। वह भगवान् अथवा भगवान् के भक्त की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करने से भगवान् के चरणकमलों की सेवा में स्थिर हो जाता है। नियमित रूप से प्रतिदिन पृथु महाराज के जीवनवृत्त को सुनाकर भी यह पद आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रसंग में *विमुक्त-सङ्गः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। चूँकि हम प्रकृति के तीन गुणों से संग करते हैं, अतः इस संसार में हमारी स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण है, किन्तु जब हम *श्रवणं कीर्तनं* द्वारा भगवान् की भक्ति में लग जाते हैं, तो हम तुरन्त *विमुक्त-सङ्गः* अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत “महाराज पृथु का भगवद्धाम गमन” नामक तेईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।